साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत राजस्थानी काव्य-संग्रह

बोल भारमली

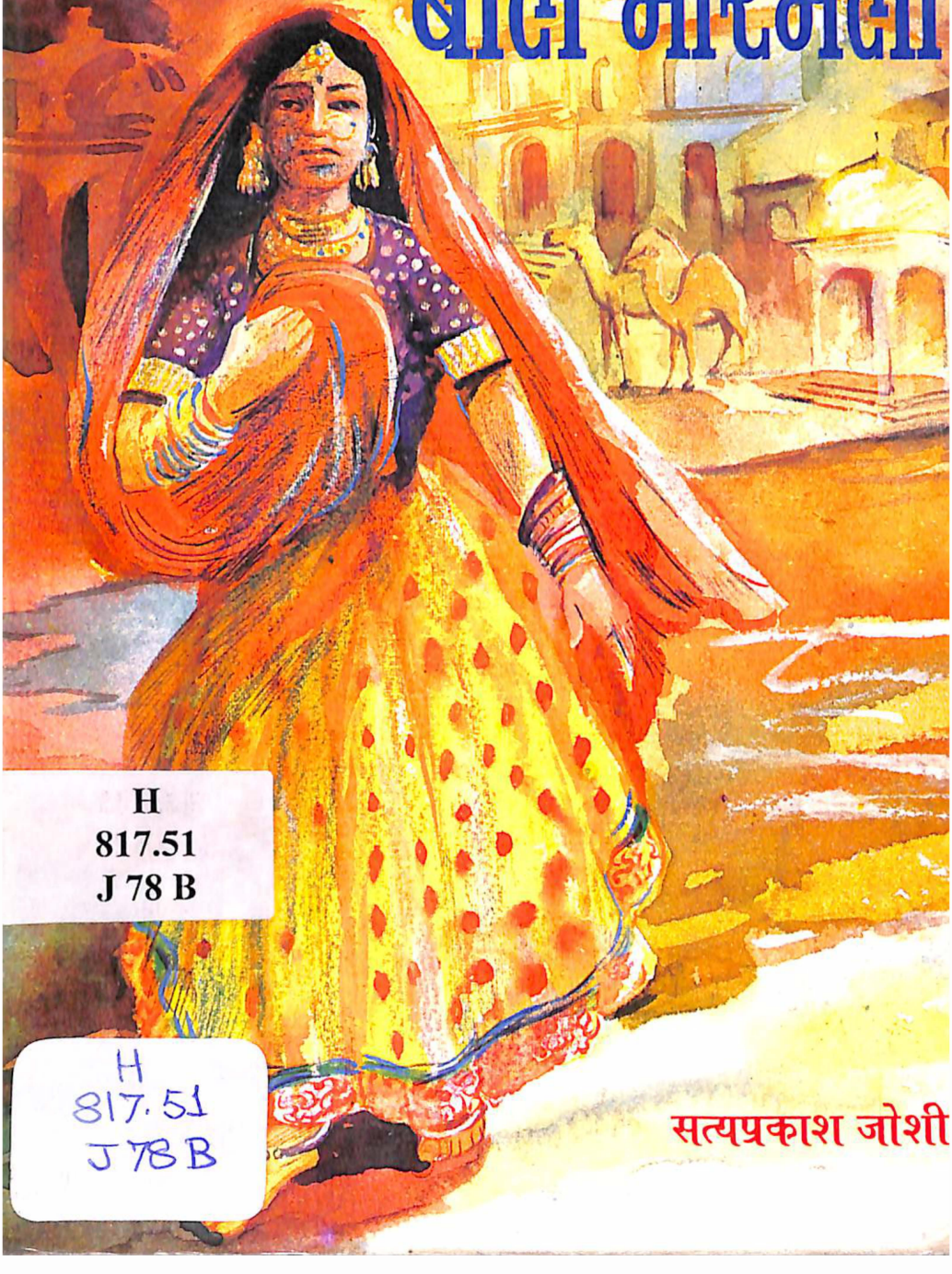

H
817.51
J 78 B

H
817.51
J78B

सत्यप्रकाश जोशी

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।
नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई०
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत राजस्थानी काव्य–संग्रह

बोल भारमली

मूल
सत्य प्रकाश जोशी

हिन्दी अनुवाद
कुसुम माथुर

साहित्य अकादेमी

Bol Bharamali : Hindi translation by Kusum Mathur of Akademi's Award-winning Rajasthani poems by Satya Prakash Joshi, Sahitya Akademi, New Delhi (1997), Rs. 50

© साहित्य अकादेमी

प्रथम संस्करण : 1997

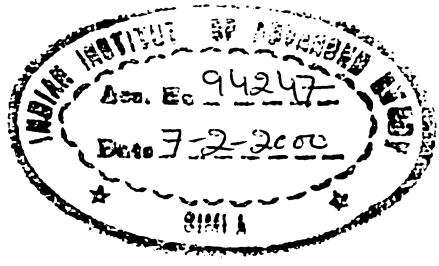

साहित्य अकादेमी
मुख्य कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली-110 001

बिक्री केन्द्र
स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली-110 001

H
817.51
J78B

क्षेत्रीय कार्यालय
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई-400 014
जीवन तारा बिल्डिंग, चौथा तल, 23ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता–700 053
304-305, अन्ना सालई तेनामपेट, चेन्नई 600 018
ए.डी.ए. रंगमन्दिर, 109, जे.सी. मार्ग, बंगलौर– 560 002

ISBN 81-260-0305-7

मूल्य : पचास रुपये

Library IIAS, Shimla
H 817.51 J 78 B
00094247

मुद्रक : संजय प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

अनुक्रम

भूमिका	5
अपरंच	11
रूप	16
पाप	20
लग्न	30
सुहाग	35
राजभोग	41
जाला	45
विराग	53
विडम्बना	60
प्रीत	71
आप	84
साक्षी राजा मालदेव की	93
साक्षी रानी उमादे की	98
उपसंहार	100

वर्षों पूर्व एक अंग्रेज़ी फ़िल्म देखी थी क्लियोपैट्रा। रानी लक्ष्मीकुमारी चूंड़ावत द्वारा लिखित *अनमोल बातां* की बाघा-भारमली की बात के नवीन अर्थ उस दिन समझ में आये। कई दिनों तक मैं इस कथा के ऐतिहासिक सन्दर्भ खोजता रहा। अन्ततः, सन् 1969 में बोरुन्दा में बैठकर इस कविता का प्रथम अध्याय लिखा। बोरुन्दा छोड़ने के बाद जमने में चार वर्ष लग गये। इस बीच दिल्ली में मेरे मित्र, बालमुकुन्द जी अग्रवाल, बार-एट लॉ, के अमूल्य ग्रन्थ-संग्रह के बीच कई बार बैठने के अवसर आये। बालमुकुन्द अग्रवाल के पास अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त सेक्स सम्बन्धी साहित्य दुर्लभ संग्रह है। जुलाई सन् 1973 में एक कॉलेज की स्थापना के कार्य से निवृत्त होकर, इस कथा पर फिर से काम शुरू किया। भारमली लगभग 45 दिनों तक मेरे साथ रही।

राजस्थानी के उत्साही कथाकार सत्यनारायण गंगादास व्यास, रोज़ सुबह-शाम मेरी तबीयत पूछ जाते थे। इस पीड़ा से मुक्त होने के कई उपाय बताते थे। रामनारायणजी सोमानी इसके प्रत्येक अध्याय के साथ-साथ आलोचना लिखते गये, जिसको पढ़-पढ़कर मैं इसका रूप रचता गया। अन्ततः भारमली पूर्ण हुई लगती है। आज इस मन्त्र के वशीकरण से मुक्ति मिल गयी है।

भारमली राजस्थान के इतिहास का अनूठा चरित्र है। जैसलमेर के राजा लूणकरणजी के यहाँ भारमली राजकुमारी उमादे के साथ बच्चे की तरह पली। वह एक दासी थी। उमादे का विवाह जोधपुर-अजमेर के राजा राव मालदेव के साथ हुआ। विवाह में राठौड़ों के साथ षड्यन्त्र करने की योजना बनी, किन्तु मालदेव जी बच गये और उमादे भटियाणी अजमेर आ गयी। भारमली भी दासी के रूप में उमादे भटियाणी के साथ आ गयी। सुहागरात के अवसर पर रानी का शृंगार अभी पूरा ही नहीं हुआ था कि श्रीमान् महल में पधार गये। भारमली उन्हें बातों में बहलाये रखने के लिए महल में पहुँची और वहीं रह गयी—रानी बनकर।

उमादे भटियाणी रूठ गयी और अपनी जागीर को लौट आयी। इतिहास में वह रूठी रानी के नाम से विख्यात हुई। एक बार राजाजी ने रूठी रानी को मनाने के लिए कवि ईसरदासजी को भेजा। रानी ने मान त्यागा और वह पालकी में बैठकर जोधपुर आ रही थी कि कोसाना में आसाजी बारहठ ने उन्हें यह दोहा सुनाया—

मान रखै तो पीव तज, पीव रखै तो मान।
दो दो गयन्द न बन्धसी, अेकै कम्बूठाण।।

वापस फिर गयी रानी की पालकी। भारमली जोधपुर के महलों में आनन्दमग्न

थी। राव मालदेवजी राजस्थान के इतिहास में बड़े प्रतापी राजा हुए हैं। उन्होंने अपने राज्य का अत्यधिक विस्तार किया और सम्वत् 1600 में समेल नामक गाँव में शेरशाह सूरी से हुए युद्ध में धोखे के कारण हार गये।

भारमली राजा को छोड़कर जैसलमेर आ गयी थी, जहाँ कोटड़ा के ठाकुर बाघाजी से उसका प्रेम हो गया। भारमली ने बाद के वर्ष बाघाजी के साथ काटे। एक बार मालदेवजी ने भारमली को वापस लाने के लिए आसाजी बारहठ को भेजा, पर बाघा-भारमली का प्रेम देखकर आसाजी स्वयं वहीं रह गये। रूठी रानी उमादे भटियाणी सं. 1619 में राव मालदेवजी के साथ सती हुई।

इतिहास की यह कथा अनेक प्रश्न उठाती है। बालपन से युवावस्था तक जो कन्या राजकुमारी के साथ रही, उसने रानी को धोखा क्यों दिया ? एक दासी ने, रानी बनने के उपरान्त भी राजा को क्यों छोड़ दिया ? एक साधारण सरदार में ऐसा कौन-सा गुण देखा भारमली ने कि उसने उससे प्रेम किया ? क्या भारमली रूपजीवी थी ?–और उत्तर दिये हैं अपने श्रीमुख से स्वयं भारमली ने। इतिहास के इन घटनाभूत प्रश्नों के अतिरिक्त भी अनेक मनोगत प्रश्न हैं, जिनके उत्तर देने के लिए स्वयं भारमली को ही बोलना पड़ा। एक रूपसी नारी के लिए क्या महत्त्व है रूप का ? नारी मन में ईर्ष्या कब जन्म लेती है ? रूप के सन्दर्भ में सामाजिक विषमता का क्या मूल्य है ? अपना जीवन-साथी खोजने में नारी को कितने ऊजड़ मार्ग पार करने पड़ते हैं ? जीवन में सेक्स का क्या महत्त्व है ? सेक्स का भोग सन्तुष्टि है देह की, मन की या आत्मा की ? नर और नारी दोनों के लिए, सेक्स का सम्पूर्ण भोग करने की क्या शर्तें हैं ? क्या संसार के सभी नर खोजते हैं एक सम्पूर्ण नारी ? क्या नारी को सम्पूर्ण नर सहज ही मिल जाते हैं ? क्या नर और नारी एक दूसरे की प्रेरणा हैं ? क्या वे एक दूसरे को परिपूर्ण करते हैं ?

भारमली को मैंने बहुत उकसाया है– और वह भी जब बोलने लगी, छिपायी नहीं उसने कोई बात। भारमली का आत्म-कथन पूर्ण होने पर मैंने राजा मालदेव जी और रानी उमादे भटियाणी की साक्षी माँगी है– भारमली का सत्य परखने के लिए। दूसरी बार जब मैंने भारमली से फिर बोलने की अनुनय की तो उसने अपनी पिटारी आने वाले युग की नारी के लिए खोल दी। भारमली ने नारी समाज को अन्त्याक्षर दिया है – पूर्ण-पुरुष।

इतिहास का सत्य और साहित्य का सत्य जब आमने-सामने आते हैं तो दोनों के भिन्न रूप प्रकट होते हैं। साहित्य इतिहास को बार-बार अपनी कसौटी पर जाँचता-परखता है। कई बार, साहित्य के औजार इतने भोथरे हो जाते हैं कि एक युग के कवि बार-बार उन्हीं शब्दों में इतिहास को दोहराते जाते हैं। इतिहास का सत्य साहित्य का झूठ बन जाता है। पर इस रचाव में कसमसाती भाषा का बार-बार नया संस्कार होता है और साहित्य एक नवीन जीवनी-शक्ति लेकर, सत्य से

साक्षात्कार करने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य के उबरने का मार्ग तो निकल आता है, पर इतिहास नहीं उबर पाता। इतिहास के सन्-सम्वतों पर दो विद्वान् कभी भी एक मत नहीं होते। इतिहास न तो अपना दृष्टिकोण बदलता है, न कथित बात से अधिक बात ही बता सकता है। यह इतिहास की बड़ी कठिनाई है। भारमली ने जब इतिहास से बाहर निकलकर साहित्य में चरण रख दिया तो चार सौ वर्ष पहले के एक मन ने भी वर्तमान में जीने के लिए आवरण उतार फेंका। मुझे तो लगता है कि वर्तमान के वर्जनाहीन समाज की एक नारी, चार सौ वर्ष पुराने इतिहास का जीवन भोगने के लिए यह कथा बोल रही है।

साहित्य, जो सत्य से जूझता है, वह इतिहास की तरह, काल-सापेक्ष नहीं होता। इस कारण, जब किसी काल का इतिहास साहित्य में अवतीर्ण होता है तो वह अनन्त मूल्यों के पक्ष में होता है, इस या उस पात्र के पक्ष में नहीं। इतिहास साहित्य को घटनाएँ देता है, साहित्य उन घटनाओं का एक नया मानस उघाड़कर उस मानस को प्रांजल भाषा देता है। भारमली के मन का उद्घाटन करना साहित्य का धर्म है तो भारमली को मालदेवजी तथा बाघाजी से मिलाना इतिहास की विवशता है। इस सन्दर्भ में मुझे भारमली की प्रशंसा करनी पड़ती है। वह, राजा मालदेव का यशगान करती हुई भी, अपनी पूर्णता के प्रसंग में राजा की अपूर्णता परखती चलती है। राजा से भारमली का प्रथम सम्बन्ध एक ऐसी घटना है, जो अपनी आकस्मिकता से स्वयं भारमली को चमत्कृत कर देती है। किन्तु, एक दो वर्ष रानी के रूप में सामाजिक मान्यता भोगने के पश्चात् जब भारमली अपना मन टटोलती है, तो वहाँ उसे एक सूनेपन के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। राजा का दिन-रात युद्ध में संलग्न रहना, एकान्त न मिलना, दोनों का संग न होना, और सबसे बड़ी बात, राजा का विजित देशों की धरती को न भोगना राजा को भारमली के प्रसंग में अधूरा रख देता है। इन थोड़े-से दिनों में ही भारमली काम की दैहिक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर, मन और प्राणों के झरोखों में पहुँच गयी है। भारमली की सेक्स की दैहिक ज़रूरतें तो शायद पूरी होती हैं, पर मन सन्तुष्ट नहीं होता। भारमली के चंचल मन का यह अनमनापन इतिहास की सीमा में नहीं है। इतिहास उसके एकाएक मिलन की बात बताता है, और बताता है एकाएक बिछुड़ने की बात। साहित्य इन दोनों छोरों के बीच का पाट भरता है।

इतिहास और साहित्य का दूसरी बार साक्षात्कार होता है भारमली का बाघाजी के साथ जीवन व्यतीत करने में। नर और नारी के काम- सम्बन्धों की जिस धरती पर भारमली और मालदेवजी के सम्बन्ध बिगड़े थे, उसी धरती को पुनः खोजकर, अपने दैहिक, मानसिक ओर आत्मिक सम्बन्ध का समाधान मिला भारमली को, बाघाजी में। यदि इतिहास यह बताता कि बाघाजी के पास पहुँचने के बाद भी

भारमली किसी दूसरे पुरुष के साथ रही, तो साहित्य भी वह भूमि खोजता, जिसके आधार पर वह अतृप्त लगती। भारमली तिल भर भी ओछे तुलते पुरुष को भोगने वाली नायिका नहीं थी। इस प्रकार साहित्य एक पूर्ण मंडल की सर्जना करता है, जिसमें एक पूर्ण नारी के अर्ध-मंडल को एक पूर्ण पुरुष के अर्ध-मंडल से जोड़ा जा सके। इस प्रसंग में भारमली, सेक्स के तीनों आकाशों पर भोगे हुए अपने अनुभवों का पूरी चेतना से बखान करती है और आसाजी बारहठ की सम्भावित प्रतिक्रिया में पार्वती का रूप धारण कर सकी है। साहित्य की यह शक्ति ही साहित्य को इतिहास से ऊँचे आकाश पर पहुँचाती है। इतना ही नहीं, इतिहास की कथित भूमिका तक पहुँचने में साहित्य भारमली के बचपन का सन्धान करता है और कथा को झटका देकर, इतिहास की पहली घटना तक पहुँचाता है।

जब तक भारमली का मन मालदेवजी से नहीं फटता, अपने सम्पूर्ण कथन में वह अपनी शक्ति से परे जीवन जीती है। देह में दमकते रूप पर उसका वश नहीं हैं, वृद्ध हितैषियों की काम-वासना बुझाने में उसे आपत्ति नहीं है और राजकुमारी के मनोरंजन का साधन बनने के लिए वह विवश है। इस सीमा तक पहुँचने से पूर्व भारमली को न तो रूप का अर्थ समझ में आता है, न काम का स्वर्णिम आधार ! भारमली का आधा जीवन एक बाल-बोध है – इतिहास की दृष्टि से बचा हुआ–साहित्य की भुजाओं में वर्द्धित होने के लिए लड़खड़ाता हुआ।

भारमली, उमादे के विवाह में अपना स्वरूप पहचानती है, जब वह चौपड़ की गोटी की तरह जीना छोड़कर एक ऐतिहासिक निर्णय लेती है और उमादे का विवाह निर्विघ्न कराने में निमित्त बनती है। कर्ता के समान उसकी दूसरी ऐतिहासिक क्रिया उस समय है, जब वह राजा मालदेवजी की सेज चढ़ जाती है। भारमली अपने नारीत्व से एक ख़ूँख़ार राजा का संस्कार करती है। उसे अपनी ऐतिहासिक भूल का भान उस समय होता है, जब राजा ईसरदासजी को रानी उमादे को मनाने भेजते हैं। किन्तु, यह साहित्यिक भूल नहीं है। कविता के शब्दों में तो भारमली अत्यधिक प्रसन्न होती है, किन्तु इतिहास और साहित्य की अलग-अलग नावों में सन्तरण करती भारमली इसी बिन्दु पर अपनी पीड़ा के पोत खोल देती है। आगे के इतिहास की स्वामिनी स्वयं भारमली है और इस कारण आगे का साहित्य भी भारमली का है।

काम और कामुकता, अपने सामाजिक अर्थों में, दो भिन्न-भिन्न व्यंजनाएँ हैं। काम, मनुष्य और मनुष्य के पेट की भूख से भी पुरानी, एक आदिम आवश्यकता है। युग-युगों से मनुष्य इसकी पूजा करता रहा है और इसके माध्यम से वह पूर्ण बना है। काम, सृजन का सबसे सबल माध्यम रहा है। नर और नारी के बीच के सुख-सम्बन्धों में काम की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है। जब यही काम नासमझ देह के पोषण का माध्यम बन जाता है और अकारण अपनी रीति से अलग

बहने लगता है, तो यह कामुकता का रूप धारण कर लेता है। भारमली, कामुकता की इन अँधेरी गलियों में भटकती हुई काम का स्वर्गलोक खोज लेती है। यह उसके जीवन की सच्ची कमाई है। इस शोध में उसे अपने युग के सबसे प्रतापी राजा और उस राजा की रानी का पद भी छोड़ना पड़ता है। बाल्यावस्था में भारमली लोगों की कामुकता का शिकार बनती है। थोड़ी बड़ी होने पर वह स्वयं की कामुकता के हाथों खेलती है और राजा मालदेव में भी कामुकता के बीच काम की प्रतीक्षा करती है। जैसलमेर प्रवास में, काम के विचित्र विकारों से भी उसकी पहचान होती है। किन्तु अन्ततः बाघाजी के प्रसंग में वह उस काम को खोज लेती है, जो जीवन का प्रेय और श्रेय है। कामुकता के समस्त अर्थों में नारी की अपेक्षा नर बहुत दुर्बल होता है, किन्तु काम के अर्थ में नर और नारी में अन्तर नहीं है। काम, देह की सीमा से परे, मन और आत्मा के आकाश में, पुरवाई की तरह पसरती एक प्राणवायु है, जो द्वैत को एकत्व में ढालती है और काया के अस्तित्व का भ्रम मिटाती है। यह स्थिति दो पूर्ण इकाइयों में ही सम्भव है।

भारमली को अपनी पूर्णता पर भरोसा है। वह शारीरिक सौन्दर्य में, चतुराई में, सम्वेदना में, छल में, त्याग में, कामुकता में और काम में एक परिपूर्ण नारी है। वह भोग के रहस्य जानती है और एक योगी समान उदार, त्यागी, कवि-संवेदना के स्वामी, सबल पुरुष की ओर खिंचती जाती है, जो काम के दिव्य मंडल का प्रतीक है। अपनी-अपनी इच्छानुसार, सभी पुरुषों को अपनी सच्ची संगिनी की और संसार की सभी नारियों को अपने योग्य पुरुष की खोज रहा करती है, जिससे वे एक-दूसरे के पूरक हो सकें। काम की महिमा इसी खोज-प्राप्ति में निहित है। एक-दूसरे की अपूर्णता को पूर्ण करने वाले युग्मों में अपने लाभ की कोई भावना नहीं होती, क्योंकि काम का सम्बन्ध रक्त से है, बुद्धि से नहीं। कविता का सम्बन्ध भी इसी रक्त से हुआ करता है।

इस कारण, जब भारमली अनेक शब्दों में अपने व्यवहार के कारण समझाती है, तो मैं उससे एकमत नहीं होता। अंतिम अध्याय में भारमली युग की नारी को जो सन्देश देती है, वे भी अतिरंजित हैं, क्योंकि भारमली तो अपने कार्य में ही महान् है, कृत्यों में सम्पूर्ण रूप से व्यक्त है, फिर बोलने का लोभ क्यों ? पर, अपने जीवन के अनुभवों के माध्यम से कोई रचना जिन निष्कर्षों पर पहुँचती है, उसे वहाँ पहुँचने से कोई लेखक या पाठक कैसे रोक सकता है ? मन में जन्म लेते पात्र से एकमत होना अपने लिए आवश्यक नहीं है। अपने ही आधार पर वह रचना आज़ाद हो जाती है। घटनाओं के जिस भँवर में वह पड़ गयी, शायद उससे बाहर निकलना भारमली के वश में भी नहीं था। रचनाकार और रचना के बीच का यह सम्बन्ध मुझे भी पहेली-जैसा लगता है।

❐

कौन हूँ मैं ?
प्रीति के पुष्कर की पवित्र पौड़ियों से
इन्द्रधनुषी हथेलियों पर उगे हुए
जौ के अंकुर विसर्जित करती गणगौर ?
या चाँद की अमृत-मुँडेरों के ऊपर से
बरसते मेघों से ढलती
मिट्टी की तीतर-पंखी सुगन्ध की झकोर ?

कौन हूँ मैं ?
इतिहास की खड्ग लेखनी से
रक्त-मसि में सीमा बदलते भूगोल के
विरूप चित्र की खंडित कोर ?
या चित्रशाला में चित्रित
खड़ी उँगलियों से संकेत करती
कुल-वधुओं के विशाल नयनों से झरती
नग्न प्रस्तर प्रतिमा की पपड़ियों की लोर ?

कौन हूँ मैं ?
ऊँट के बच्चों की मानिन्द पाला-पोसा
मुझे जैसलमेर के टीलों ने
बैठाया बालू रेत पर
बड़ की शाखा से बाँध
सजाया सुनहली नकेल से और कौड़ियों-गुँथे गोरबन्ध से
नागरबेल का डाला चारा
फिर भी
पाँव झनझनाते

बिछुड़ गयी टोली से
कतारियों[1] के देखते-देखते।

पाले मैंने वासुकि नाग
मन के पलाश-द्रुमों में
रत्न-कटोरों से पिला कर ईर्ष्या का दूध
दाँतों से डसाया कोमल कलेजा
विष की खुमारी में बिताया
झुनझुनों से खेलता बचपन।

सूँघती चौथी पाँखुरी चम्पे की
पहुँची मंडोवर के बाग़ों में
चरती अफ़ीम के फूल हिरणी-ज्यों
सोयी महुवे की छाँव
दौड़ी फुलवारी की आस में
अमृत मान कर पी मैंने
मृग-जल की छली लहरें।

बदला चुकाया यों
अनचीन्हे पुरखों के पाप का
दुत्कारों झिड़कियों के संताप
भिन्न-भिन्न स्तनों का दूध
फटे वस्त्रों की
गाँठ बँधी निर्धनता,
वर्जनाओं से बँधे यौवन का
प्रतिबंधित चंचल रूप का
बंदी बचपन का
विषभरे बैनों का

---

1. ऊँटों द्वारा एक गाँव से दूसरे गाँव माल ले जाने वाला व्यक्ति ।

निर्बल नारी होने का
परवश दासी होने का !
यौवन की मदमाती घटा से रीझ कर
टहूकी महरानगढ़ के रक्तिम शिखरों पर
मोर के उनमान पाँखें तानकर !
पर, पाँव पर नज़र पड़ते ही
बरबस ढुलकाये आँसू
गढ़-कोटों पर
बुर्जों पर।

तन-वन पर राज्य किया यौवन-शार्दूल ने
सरोवर की पाल पर
मदमाती गजगामिनी से किया छल
हस्ती को विदीर्णकर निकाल लिये गजमोती
मान किया स्वामिनी ने
राज-शय्या पर मौज की तो बस मैंने।

हींगलू पलंग की बादल-शय्या पर
जहाँ-जहाँ बदलीं करवटें मैंने
वहीं-वहीं खिल उठे फूल
रातरानी, चम्पा, गुलाब के
और स्वर्णिम स्वप्नों के सिरहाने
जहाँ-जहाँ भी झरे नीरद-नयनों से मोती
वहीं-वहीं छलक उठे
पीछोले, बालसमन्द, आनासागर।

आलिंगन के लिए छटपटाती कामिनी
विह्वल नयनों से पथ निहारती
प्रीत की पुरवैया का सन्देश पाने !

चीत्कार करती रत-पंखी कुररी के उनमान
"प्यासी हूँ, प्यासी हूँ"
आख़िर उड़ चली सरोवर की ओर
जोड़ से जुड़ने
मन के कोटर में।

दासी बन मनमानी सही भाटियों की
रानी बन कर धन्य किया राठौड़ों को
कोटड़िया[1] के विरह में आँसू बहाये
सम्पूर्ण नारी बनकर।

कौन हूँ मैं ?
जिसके कुमकुम पद-चिन्हों की राह
'पथभ्रष्टा' की गाली खाकर
सतियों, कुलवधुओं या रानियों की ओट में चलती
प्रीत की कामधेनु मैं तो
समाज की निगरानी में
देखते-देखते सबसे आगे
टिन-टिन घंटियाँ बजाती
निकल गयी दूर टोली से
बिछुड़ गयी मैं अपने झुंड से।

मुझे रोकने आये आसाजी
दोहों, सोरठों, कवित्त और गीतों के टिचकारे देकर
पर मैं तो बढ़ती गयी, आगे-ही-आगे
पोखर-सरोवर, खेत-खलिहान
बाग़-बगीचे, चरागाहों
थल और मरुस्थलों में।

---

2 कोटड़ा के स्वामी बाघाजी।

कौन हूँ मैं ?
बाघाजी का यश-अपयश
हिमालय से ऊँचा, समुद्र-सा गहरा ?
अर्थों, संकेतों, शब्दों से परे
क्या कविता कोटड़िया की ?
परायी प्रीत ?
नेह में आकण्ठ अनुरक्त ?
बिन हाथ हथलेवा ?
गाँठ बिन गठजोड़ा ?
भाँवर बिन विवाहिता ?
जन्मी कहाँ, पाला किसने
किसका घर बसाया मैंने
सती हुई किसके साथ ?
पहेली-सी हूँ समाज की।

कौन हूँ मैं ?
शरीरी, अशरीरी ?
नाम जाति कुल विहीन
क्रौंचिनी आदि कवि की ?
चांड़ाली ? कामातुर ?
रूप की बनजारिन ?
दासी यौवन की ?
ईर्ष्या की आग
हथेली की रेखा,
लीक से हटी हुई
क्रान्ति दबी हुई माटी की ?

ध्यान कर सरस्वती का, स्मरण कर गणपति का जब
सृजन करोगे छन्द-अछन्द

शब्दबद्ध करोगे प्रीति की कथा कोई
रूपायित करोगे नारी को
तुम ही बताओगे पीढ़ियों को
कौन हूँ मैं
भाषा के भावी कवीश्वरो !

रूप

स्फटिक-दर्पण से झाँकते
हरियल तोते
राजकुँवरी की परेई-सी आँखों के
लाल डोरों के लजीले संकेतों के प्रत्युत्तर में जब
गाने लगे
सात समुन्दर, नव द्वीपों की रूप-कथाएँ
खम्मा ! खम्मा !

थुथकारे डालने लगा
बादल महलों में हिलोरें लेता
क्षीर सागर !
कहने लगे कुछ रत्न-कचोले
और हुंकारा देने लगा
एकान्त का कसमसाता सन्नाटा
खम्मा ! खम्मा !

विकसने लगी केशर-वर्णी कुँवरी
दाड़िम के फूल-ज्यों।

ताक-झाँक करती उत्सुक नज़रें !
नाहरलंकी क्षीण कटि को
बाँधने लगे मन के नागपाश !
साकार हुए हंसों के जोड़े गति में।
खम्मा ! खम्मा !

भर-भरकर रत्न-कचोले में
अंगों पर मला हल्दी बादाम का भीना उबटन
स्वर्णिम झारे से
धोये श्यामल केश।
गजमोतियों से गुँथाया शीश
स्वर्ण-ज़री के आटी-डोरे[1]

लड़ों, लूम्बों से लहराती वेणी।
मेंहदी से माँडे गये
हथेली पर सुन्दर मांडने
नयनों में फिरीं सुरमे की सलाइयाँ।

रेशम की पोशाकें
नख-शिख गहनों से लकदक
सजाते जब चाकर चितेरे कुँवरी को
खम्मा, खम्मा !

फटे हुए वस्त्रों में आब समेटे
अम्बर में तारों के उनमान
मैं भी तो बढ़ रही थी।

---

1 सिर के आभूषण को गूँथने के डोरे।

मन-ही-मन सँवारे मैंने
कुँवरी के शृंगार अपने अंगों पर
बाँटने वाले हाथों में अछूता रंग रचा
सुरंगी मेंहदी का।

कुँवरी को निरखते
नयनों में उठी हिलोर
मद की, अमृत की, हलाहल की।
मेरे पाँवों में झनकी कुँवरी की पायल
झूम उठी थी बिन पहने ही करधनी
खनके कलाई पर
कल्पना के कंगन
चमक उठी चूंपें[1] मेरे भी अधरों में।

अगम्य है रूप का मर्म !
अनूठा है रूप के रंगों का इन्द्रधनुष,
आभा मन की खिलती है रूप के मोती में
सुन्दर रूपों में बसती है
सुन्दर आत्मा।

अनजाने ही उग आता है
राजा और रंक का भेद जाने बिना ही
रूप का भोला पलाश !
सिखाता है खींचकर पलकों को कानों तक
चंचल चितवन के
अलक्ष्य तीर साधना
रूप का अहेरी !

---

1 स्त्रियों के दाँतों का एक छोटा-सा गहना।

देकर अदीठ अंकुश
गजगति से चलाता है धीरे-धीरे
कामिनी को
रूप का महावत !

जब रतन तलाई के
आड़े-तिरछे पर्दे बँधवाकर
नहाने को जाती कुँवरी
सयानी सहेलियों के संग
होती थी निर्वसन मैं सबसे पहले
और जल के दर्पण में
निहारती थी अपना रूप।
मलिन वस्त्रों से मुक्त

मैं एक देह मात्र
उँड़ेलती जब अपनी निर्धनता का
रूप-सरूप निर्मल नीर
घुल जाती मेरी कुमकुम पगतलियाँ जल में
चन्द्रमा-सी चमकने लगती
मेरे मुख की प्रतिच्छाया
और लहरों पर तैरने लगती
मेरी मुस्कान हंस के पंख-सी।

मेरे भुजनाल जैसे दो जलज
ताल की मछलियाँ मेरे चंचल नयन
झुकते पयोधर
मानों पानी पीते पपीहों की जोड़ी।
सुकोमल तल में कदली के थम्भ रोप
ढाँप लेती मैं रतन तलाई श्यामल केशों से

नयन मूँद कर अरज करती
रूप के देवी-देवताओं से
'यूँ ही निर्वसना रहने दो मुझे'।

पर फटकारें खाकर
निकलना पड़ता जल से बाहर
और सिहरते तन पर पहननी पड़तीं
राजकुँवरी की उतरी पोशाकें।
उमगते अंगों पर गड़ती कंचुकी, फटी हुई टुकियाँ
बेनाप कलीदार लहँगा
और बदरंग ओढ़नी।

मैं अबूझ नादान पूछती प्रतिदिन
तू मेरे तन पर क्यों छाया
हे अनुपम मायावी रूप ?
तेरे योग्य शृंगार कहाँ से लाऊँ
ओ चार दिन के पाहुन ?

पाप

ड्योढ़ीदार मुकनाजी सुनाते थे मुझे
राजगाथाएँ शूरों और सतियों की
और पकड़-पकड़ बिठाते थे मुझे अपनी गोद में
मैं नासमझ बालिका नहीं थी !

द्वारपाल कान्हाजी सिखाते थे मुझे गीत
और टिकाते थे अपनी दाढ़ी
मेरे गालों पर,
मेरी चिकनी जंघाओं पर
रखे रहते थे अपने हाथ,
मैं नासमझ बालिका नहीं थी !

दिखाते मुझे राम, सीता और कृष्ण भगवान के
रंग-रँगीले चित्र
माताजी की पूजा करते पुरोहितजी
छिपकर देते थे प्रसाद बताशों का
और चख लेते थे कभी-कभी
मेरे अधरों की मधुर लालिमा।

पूजा के फूलों के बहाने
बुला लेता था नारायण माली मुझे
उपवनों में
और फूल-फूल का रूप बखानते
बन जाता था रसभीना कवि
मेरे अंगों पर फूल चढ़ाते हुए
उपमाएँ देता फूलों की

राजकुँवरी के भोजन का थाल सजाने
जाती थी जब मैं रसोईघर
रसोईदार हीरजी
चखाते मुझे खीर की खुरचन
या चुसाते थे
मांस लिथड़ी हड्डी

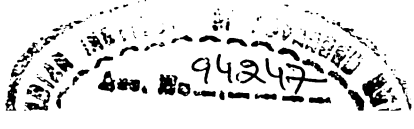

और खूब प्यार से खेलते थे
मेरी छाती के सिंघाड़ों से।

गूँजती थी चारों ओर
भारमली, भारमली की पुकार
और पहुँचती जहाँ
बाँध लेते मुझे
सफ़ेद दाढ़ी वाले चाचा, मामा के
लालायित भुजपाश।

पहुँचती जहाँ भी देर से सुनती थी उपालम्भ
प्यार भरे हाथ उठ पड़ते पीटने को
और विशेषण जुड़ जाता राँड़ का
भारमली की छिनाल संज्ञा के साथ।

मेरे अंग-सौष्ठव के सृजन को उतावले
जैसलमेर के कई चाकर
अधेड़ और वृद्ध
मेरे धर्मगुरु !

यहाँ आ, यहाँ बैठ।
यहाँ हाथ रख,
यहाँ मुँह लगा
टाँगें यों रख
चुप !
किसी से कहना मत।
ले यह ज़री का गोटा।
ले यह छदाम !

और अपने-आप ही सीखती थी मैं
किसे सुनाती दिनभर की आपबीती ?
कुँवरी की चाकरी का मोल चुकाते
कब बताया भारमली ने
विलम्ब का कारण ?
कब दिया उत्तर उपालम्भ का ?

देर रात
कुँवरी के पग दबाकर
गीत-गाथाएँ सुनाकर, सुलाकर
जाती जब इस महल से उस महल तक
बुझ जाते दीपक यकायक
बारादरी के।
और दबोच लेता मुझे कोई अँधियारा
सिसकती भरता
घोड़े-सा हिनहिनाता।

चारों ओर से
चढ़ आते पलंग पर
काले नाग ही नाग
और दोफाड़ी जिह्वाओं से घिरी मैं
तकियों को कस-कसकर
करती थी रतजगा !
हाय, रात में रखवाली खेतों की
कितनी कठिन होती है।
कोई समझदार ममत्व
चिपका लेता छाती से
और डरने नहीं देता था
चाँद तारों से

सूनी छत पर।
हाँ, सपनों की बातें अलग थीं !
रीछों से भरे जंगल में
दहकते अंगारों-सी लाल-लाल आँखों के बीच
मैं खेलती बादलों में बैठकर
चिरमियों से
और हर दिन हार जाती बाजी कुँवरी से।
उड़ जाती पंख पसार
कैलास पर्वत के शिखरों पर।
कोई सपना
मेरे अंगों से कीड़े झाड़
नहला कर मुझे
ले जाता रथ में बिठाकर
गुफाओं के पार क्षितिज के पास।

बैठ जाते गिद्ध
मेरे गर्माते अंगों पर
किसी सपने में
और उन्हें उड़ाने में असमर्थ
चीखती मैं ज़ोर से
"मत करो ऐसे"।
फिर सुलाता मुझे कोई
चम्पा के फूलों की शय्या पर
और जलाता था दीपक
जिसके प्रकाश में हो जाती मैं
अंतर्धान।

अर्थहीन स्वप्नों से भीगी
मेरी पलकों के खुलने से पहले ही

शोर मचा देता भोर का सूरज
"भारमली, जगा कुँवरी को,
भारमली यह ला,
भारमली यहाँ आ।"
और चिकोटियाँ काट-काटकर जगाता था मुझे
राजाराम का उजला भोर।

फिर मिलते थे मुझे –
गुड़िया, गुटके,
चिरमियाँ, चित्र, चाटने को जूठन,
बताशे, फूल,
उतरे हुए वस्त्र
फटी हुई पोशाकें
और गालियों का परोठन लगा
मेरा नाम
भारमली–भारमली

और उस दिन दाता के सेवक
शंकरिया ने
मेरे मुँह पर रखकर हाथ
घसीट लिया था मुझे समद महल के कोने में
काटने मेरा अंग-प्रत्यंग !
छटपटायी मैं !

इतने में उघड़ गया मेरा अछूता तन !
हत्यारी आँखों की आँच
पहचानी पहली बार मैंने किसी के
लाल डोरों में।

झुकती हुई गर्म साँसें
और बरजोरी करता एक पशु
पसरता मेरे ऊपर।

सचमुच विवश है नारी।
मुँदने लगीं बोझिल पलकें
और ढलने लगा मेरा तन
निश्वास छोड़कर।
मैं फिसलने लगी
ढलान उतरती किसी नदी की
धार में
और डूबने से पहले हड़बड़ाती
पकड़ने लगी
पत्तों भरी कोई डाली नीम की।

इतने में गरजा कोई भीमकाय मेघ
वज्र-सा कड़का
"यह क्या हो रहा है महलों में ?"
"कौन है तू ?"
त्वरित बिजली-सी हो गयी मुक्त मैं
जोरावर के अंगपाश से
मुर्दे-सा पड़ गया वह कापुरुष।

पहली बार भरपूर निगाह से
देखा था मुझे एक पुरुष ने निर्वसन।
उबर गयी मैं
भोगी मन के स्वभावगत
निरर्थक संकोच से।
जा पहुँची रंगरेलियो की देहरी तक

पहली बार
पुरुष को अपना बनाने की
जागी लालसा मन में।

उपाय हो गया
उस दिन से मेरा
कर दिया नियुक्त मुझे
कुँवरी की निजी सेवा में।
लग गया पहरा महलों के बाहर
और मुझे लगा
मैं जवान हो गयी हूँ।

मेरे उठने-बैठने
हँसने-रोने को आँकती
कुँवरी की सहेलियाँ
झाँकती मेरे मन में
दासियों की घूरती निगाहें,
मेरे ओढ़ने-बिछाने
सोने, चलने-फिरने का
लेखा लेतीं
डावड़ियाँ
मुझ से डाह करतीं हरदम।

सौ-सौ दुत्कार-झिड़कियों का
शृंगार करके
पालती हूँ मैं अपने मन-कुंज में
कामनाओं के हरिण
और टाँकती हूँ अपात खेजड़ियों पर

शिरीष के फूल।
कुँवरी के जागरण से सोने तक
छाया ज्यों लिपटी रहती भारमली।
कुँवरी का केशर-स्नान
मुझे गँदला कर देता
कुँवरी का हर निवाला
मेरे मुँह में घोल जाता लार !
कुँवरी का नित नया सिंगार
मुझे खोजने पड़ते प्रसाधन
कुँवरी का शयन
मेरा पंखा झलना।
कुँवरी का खेलना
मेरा दाँव हारना।
कुँवरी का झूलना
मेरा झोंके देना
कुँवरी का रूठना
मनाने का कर्तव्य मेरा
कुँवरी की हर बात पर
मुझे खम्मा-घणी, खम्मा-घणी करना !

एक ही गढ़ में पोषित
दो कन्याओं के बीच
खड़े हैं कई अर्बुद
निर्धनता में जन्म लेने के
अभिशप्त जीवन पर
लहरें उछालते सात समन्दर
रूप के इन दो बुर्जों के बीच
फैला है सौ योजन का बीहड़ जंगल !

कुँवरी के आदेश पर
उस दिन सजाया गया मुझे
मर्दाने वेश में।
मेरे केश-बँधे सिर पर साफा बँधवाया
पहनाये कर्णफूल
लगायी मूँछें होठों पर।
मर्दाना धोती और बगलबन्दी की
फबती वेश-भूषा।
अनथक निहारा राजकुँवरी ने
आधी रात के नगाड़े बजने तक

मैंने भी ताव दिया बढ़-बढ़ कर
नकली मूँछों पर
और नयनों में मर्दाना मद भर
मुसकाती रही कुँवरी के
सलोने अंगों पर।

बाँहों में भरकर मुझे
लेट गयी कुँवरी रस-भीनी शय्या पर
खोजने लगे हाँफते हुए हम दोनों
एक दूजे के गुमशुदा अंगों को
अधरों पर धरकर अधर
मैंने दी कुँवरी को
आत्मा की प्राणवायु।
और गर्माते परस से मिटाया
कुँवरी का उष्ण उत्ताप।

फिर उमा ने मुझे नीचे गिराया

और हुलस गई मेरे ऊपर।
पूछती रही मैं–क्यों क्यों ?
पुरुष तो मैं बनी हूँ !!

कुँवरी हँसी विमुक्त होने पर
और झुका ली पलकें
गालों पर दमक उठे दो अंगार-पुष्प !

फिर रात-दर-रात
यही कुत्सित आयोजन
पुरुष होने पर भी हरदम हारना मुझे।
सूर्योदय होते ही उसी तरह इतराकर हँसना
और अपने कार्य में लग जाना
चुपचाप।

पर मैं नहीं भूलती
असमानता के हाकिम का न्याय।
उस पारखी की प्रतीक्षा है मुझे
जो दे गवाही
नारी-मन के द्वन्द्व की,
हार-जीत की।

लग्न

जब से नारियल स्वीकारा
मालदेवजी ने

राजकुँवरी का स्वभाव कुछ बदला-सा लगता है
आजकल नहीं रमती सेजों पर साथ
न धरवाती मुझसे मर्दाना वेश
उन्मनी रहती है दिन-भर।

अभिमान की बात क्या ?
राठौड़ों को भाटियों की कन्याओं का
रहा सदा से चाव।
फिर मह्वरानगढ़ के स्वामी ने तो
पाँव पसारे अजमेर तक।
अच्छा है बच गया—जैसलमेर
गिद्ध की हिंसक दृष्टि से।
गढ़ से गढ़ का गठबन्धन
राज्य से भाँवर राज्य की !

घिस-घिस कर धोया गया
जैसलमेर का गढ़
पीले जाली झरोखे
सजाये गये कोट कँगूरे।
ठाकुर-उमरावों के जत्थे हर ठौर
बुर्जों में, महलों में, प्रासादों में।
नगाड़ों और शहनाई के गूँजते स्वरों के साथ ही
चुना गया मुझे दहेज की ख़ातिर
दासी के रूप में
हाथी, घोड़े, ऊँट, बैल,
सोने-चाँदी, हीरे-पन्ने,
वस्त्र पोशाकें
रथ और पालकी के साथ।

कोई अफ़ीमची
बनेगा पति मेरा नाम मात्र को
मुझे ही छोड़नी पड़ेगी
अपनी आत्मीय ड्योढ़ियाँ
वयोवृद्ध मेहरबानों की भीड़
और अनुभवों के काले-कलूटे आँगन।
सहमत हैं रावजी
भारमली-सी चतुर दासी
दहेज में देने को।
राजी है रानी सोढ़ी
चलो पिंड छूटा भारमली से।
राजी है उमा भटियानी
साथ चलते नदी के
दूसरे किनारे की तरह, भारमली से
और खुद राजी है भारमली नारी बनने की ख़ातिर।

दूहदड़ादड़, दूहदड़ादड़
सुनायी दे रहा है नगाड़ों का घोष
राठौड़ों की चढ़ती बारात का।
खूब हलचल है गढ़ के आँगन में।
विवाह की उमंग से भरा
आनन्द-मग्न है रजवाड़ा।
बुर्जो में बतिया रहे हैं सूरमा
स्वजनों से
रनिवास से आती गीतों की स्वर-लहरी
सजा रही है पीढ़े पर विराजी वधू को
सौरभ से गमकते प्रांगण में।

केसरिया कसूंभी दलों में

खोज रही है भारमली एक चेहरा
जिसने उबारा था उसे एक रात
समद महल में
और एक ही नज़र में
बना दिया था अनुरागिनी अपने पौरुष की।

लेती पखार एक बार
उस अनजाने पौरुष के कुमकुम चरण।
आँचल-भर समर्पण के पुष्पों से
उतार लेती आरती देवता की
और नयनों की गहराइयों में झाँक
रख देती उस मन में
अपने हृदय की समूची निधि
विदा होने से पहले !

राठौड़ों के साथ घात होनी है आज !
तैयार है दुर्ग का शूर-समुद्र
प्रचंड ज्वाला की प्रतीक्षा में।
भारमली ! यह घात है तेरे साथ।
उजड़ना सुहाग कुँवरी का
चूड़े पर मजीठ लगने से पहले !
छूट जायेगी अधूरी-ही
रूप की बाजी।
ईर्ष्या उमंगों की हत्या
पारखी के पहुँचने से पहले ही
हार-जीत के निर्णय बिन ही उठती
यह कैसी बाज़ी !
और नर की वृक्ष-भुजाओं में
नागर बेल की नाईं

मनवांछित झूलने के सपनों का
यह कैसा छल ?
अदृष्ट की ठोकर से बिखरना
रूप के घरौंदे का ?

एक बार फिर मिल जाये
वह देव पुरुष।
एक बार फिर उबार ले
पराजित होती भारमली को !
देवता, कहाँ खोजूँ, कहाँ खोजूँ तुझे ?

और यकायक कौंधा
एक रूप मन की मेघ-माला के बीच।
'सिर पर पगड़ी बाँधे मैं
लगाये नकली मूँछें
मर्दानी धोती और बगलबन्दी
कानों में लौंग, हाथों में कड़े
कटि पर झूलती तलवार'
और इस अनूठे रूप को निहारती
वह लुब्ध दृष्टि उमा की।
भारमल्ल !

दूहदड़ादड़ ! दूहदड़ादड़ !
घनघनाते नगाड़े और फहराती ध्वजाएँ
राठौड़ों की चढ़ती बारात
घुँघरू बजाते घोड़े
झबझब करते ऊँट
ढाल से सटाये ढाल खड़े हैं रणबाँकुरे राठौड़ !

हौदे पर चढ़े
मालदेवजी के पास पहुँचा
भारमल्ल
और सन्देशा सुनाया चुपचाप कान में !

चोबदार नकीबों के कोलाहल बीच
फिर से सजी बारात !
पग-पग पर मंगल-कलश सजाये
प्रतीक्षारत
कुमारी कन्याएँ
गवाक्ष-गवाक्ष में
घूँघट थामे सुहागिनें
हाट-हाट में मनुहारें !

आज मेरी मुक्ति का त्यौहार
आने दो वर राजा को तोरण-द्वार।

सुहाग

उतरा ही है पुरुषों को बौराता फागुन
और चढ़ा है मनभाया चैत्र कामिनियों का।
चंग की ताल पर
अधरों पर थिरकने लगी है
गीतों की अनुगूँज

बसंत की बयार का नखरा ही न्यारा
नववधू-सी सुहाती है अंगों को दोपहरी धूप।

कितने दिन हो गये अजमेर आये
एक बार भी कहाँ दिखा भरतार
दिखा भी हो कौन जाने
नाम भर सुना है केवल
पहचानते नहीं एक दूजे को।

फिर भी कितना सुख है विवाहिता कहलाने में
किसी की हो जाने में !

तीसरे पहर आ गया स्वामी का बीड़ा
पान की डलिया
पोशाकें, आभूषण, इत्रदान
केशर, कस्तूरी
मिठाई की छाबें।

मैं स्वयं ड्योढ़ी से लायी बीड़ा
और रानी उमादे भटियानी का
सुहाग बिड़दाती
थाली में डलवायी पच्चीस मोहरें !

नारी और पुरुष के
प्रथम मिलन की बेला !
अन्तस् में जन्मे सपनों की न्योछार।
तन पर उगी उम्र के वस्त्रों का
परस्पर समर्पण।
संकोच और लज्जा के

नाचते नीले मयूरों की
खुलती पाँखें।
तन-मन का अनूठा त्यौहार !

स्नान करवाया रानी को
इत्र-फुलेल के जल से
दीप जलाये जाली-झरोखों पर
आले-आले चढ़ाये पुष्प पूजा के
नख-शिख शृंगार करने लगीं
चतुर दासियाँ।

सम्मुख बैठाकर प्रस्तर की प्रतिमा-ज्यों
निर्निमेष दृष्टि टिका मेरे रूप पर
रानी उमादे भटियानी
तोलती थी मुझे मानों मीठी मुस्कानों से !

अभी मोती की लड़ ही नहीं
गूँथी थी वेणी में
कि आ पहुँचे स्वयं श्रीमान् महलों में।
काँप गया दर्पण रानी के हाथ का
हड़बड़ा गयी सारी दासियाँ
उतावली में आँजने लगीं काजल
और बिगाड़ने लगीं
सुहावना शृंगार
मैं पहुँची रंगमहल में
खींच आधा अवगुंठन
शय्या के सिरमौर अन्नदाता का
अभिवादन करने
एकाध घड़ी बहलाये रखने।

कौन साक्षी है इस आख्यान का
गूँगी दीवारें तो बोलेंगी नहीं।

मेरी पायल की झनकार के स्वागत में
लड़खड़ाते अन्नदाता ने
भर लिया मुझे भुजापाश में
और मेरे बोलने से पहले ही ढाँप दी
मेरे अधरों की लाली अपने होठों से।

मदिरा के नशे में
झुलाकर पुष्प-हार ज्यों
सुरभित शय्या पर
चाँदनी-सा बिछाया मुझे
उमंगित मन से।
सहसा याद आया मुझे
समद महल का शंकरिया
विवश, निःशब्द,
ढलकने लगी मैं
एक अँधेरी गुफा में
बहती नदी-सी
अघट की आकस्मिकता से भ्रमित
घबराकर झपटने लगी
आधारहीन पत्तों-भरी डाल।

समझ नहीं पायी
समाप्त होती सोलहवीं सदी के चैत्र की चतुर्दशी को
यकायक बनते इतिहास को।
डर गयी
इस आकस्मिक अनहोनी से

शिकारी सम्मुख हिरणी ज्यों !
पृथ्वीनाथ
जिनकी तलवारें मचलती हैं
शूरों के आखेट को।
काँपती है जिससे मारवाड़, नागौर, सोजत
और अजमेर की धरती।
मदिरा के मद में
जबरन कसने लगे
दहेज में मिली दासी को।
मना नहीं कर सकी भारमली
झूठ मत बोल भारमली।

मुझे लगा
न्याय होगा आज मेरे रूप का
सुहाग-शय्या की साक्षी मैं !
उबाल पर आ गयी
विगत सोलह वर्षों की सन्तप्त ईर्ष्या।

जब शस्त्र-प्रवीण सामन्त
नरेश ने
रंगमहल के रण में
कामदेव सम-चढ़ा लिये
मेरे सम्मुख पंचबाण
मोह मूर्च्छा से मदमत्त
मैं भी बन गयी छलनामयी
सामना करने को।

धुलते-से लगे मुझे

मेरे सम्बोधन, विशेषण
बदलता हुआ कर्ता, बदलती क्रियाएँ !

माँग में भरते ही जिसका सिन्दूर
हो जाए कोई नार रानी
बदले की रात दुबारा नहीं आयेगी !
मैं रानी क्यों नहीं बन सकती ?

मैंने भी चख ली मदिरा
और ना, ना करती सिर हिलाती
तिरछी तानकर पलकें
झूल गयी नरनाथ के
सम्पूर्ण तन से, सम्पूर्ण मन से
सहवास के प्रथम स्वाद में !

थम गया था समय
थम गयी थी धरती
थम गये थे चाँद-सितारे
थम गयी थी फागुन की नखराली बयार
थम गयी थीं रंगमहल के चारों कोनों पर खड़ी दासियाँ !

जाने कब आयी उमादे
और ठोकर से गिरा गयी दीवटों को !
कपाट खुलने का खड़का भी न सुन पड़ा !
दिन उगने पर मिले केवल
धरती पर पड़ी मेरी कंचुकी पर
भटियानीजी के काजल-बिंदिया
पोंछने के चिन्ह !
कुंडली की नाईं नीचे गिरे

मेरे घाघरे पर ठोकर की सलवटें।
दीवारों पर चिपकी गालियाँ
द्वार पर ढुलके आँसू
और ठौर-ठौर चौबारे पर
चूड़ियाँ, मुंदरियाँ, पायल
कर्णफूल, बोर और बाजूबंद।
जागी मैं अगले दिन !

राज-भोग

चिरजीवी हो कल के सपने
कालपुरुष तुम लगाये रखो कंधा
कामदेव के रथ में
रूप की निर्लज्ज दामिनियो
चमको
चमकती रहो
अमरत्व के अंतिम दिन तक।
विधाता के अदृष्ट अंक ने
एक झटके से
कहाँ पहुँचा दिया मुझे !
अँधेरी गुफाओं में भटकती
घुटने तुड़वाती
नदी-नाले पार कर
अन्ततः पहुँच गई चारागाह में

प्रज्ज्वलित सूर्य से बरसते सोने के बीच
प्रथम बार यह हरियाली।

जगाया दासियों ने मुझे
और रात चखी वारुणी का
मद उतरने से पहले ही
भर दिया मदिरा का नया चषक।
स्नान करते लजा गयी मैं
अपने-ही कलेवर से
बिसर गयी रत्न तलाई की मनौतियाँ
और सेज-रंग की आकुलता का स्मरण कर
शून्य दृष्टि से
निरखने लगी दर्पण में।
मेरे अंगों पर उकरीं खरोंचें निहार
मुस्करायीं
मुझे स्नान कराती दासियाँ
और मुझे लगा जैसे
मैं हूँ किसी आकारहीन सुमन का सौरभ
ऋतुराज के दरबार का।

दो घड़ी सँवारा मुझे दासियों ने
जीवन में पहली बार
पराये हाथों सजने का
आनन्द उठाया भारमली ने।
गहनों से लकदक
नख-शिख सजी
बैठी चौकी पर

हुजूर के साथ भोजन करने।
गायिकाओं ने गाये गीत
दासियों ने व्यंजन डुलाये
छप्पन भोग रखे मेरे सम्मुख
चाँदी-सोने के थालों में।
प्यालों की मनुहार
जीमी पहली बार छककर भारमली।

दोपहर को बैठी वीणा लेकर
आलस से मुँदती अन्नदाता की अलस पलकें
चलाती उँगलियाँ
कसे हुए तारों पर
सरगम से रिझाने को
और ढालती मन का राग सुरों में
ढल गयी स्वयं कामातुर
राजसी भुजाओं में !
बुलाया तीसरे पहर
हाकिमों, सरदारों को
अभिवादन हेतु
लीं न्योछावरें, सेठों, साहूकारों से।
दिन ढले
ले गयी स्वामी को उपवन में
नचाये जहाँ मोर दे देकर ताल
और केवड़े की कलियाँ मार-मार
मुग्धा भारमली ने सुनाये
दोहे, गीत, कवित्त नरेश को।

विरुदाने वाले बोल उठे
वाह-वाह !

सन्ध्या को फिर हुआ राजसी शृंगार
बदली गयीं पोशाकें
जगमगाये हीरे पन्ने केसरिया अंगों पर।
मदिरा की मनुहारें
फिर महफ़िल जमी अलमस्ती की।

एक ही रात में सीख गयी भारमली
नाज़-नख़रे
नटती रही सारी रात
और समर्पित होते-होते
चढ़ गयी प्यासे मन की पालकी पर।
फिर गयी दुहाई भारमली की महलों में।

ज्यों फैलती-सिमटती छाया
लिपटी रहती है वृक्ष के चरणों से
और समाहित हो जाती
अँधेरा घिरने पर
वृक्ष की डालियों, पत्तियों में,
जीने लगी भारमली
अन्नदाता के तीनों अंतः आकाशों में
सारे दिन !
और घुलने लगी कंत के संग
मधुमय रातों में।

नहीं किसी को आने देती पास
विचारों के उपवन में
नहीं किसी को झाँकने देती
मन के गवाक्ष में
नहीं किसी को चढ़ने देती
प्रमुदित स्वभाव की सेज पर।
रानी है भारमली
'नवकूँटी' मारवाड़ की धरती के
नवलख तारे छाये अम्बर की !

जाला

दो छबीली सुन्दर
दासियों को
बहलाकर ब्याह दिया
मेरे दो युवा चाकरों से,
भेज दिया उन्हें रूठी रानी की सेवा में।
परले महलों में रखवा दिया
मेरे ख़ास नाजरजी को
नित्य समाचार पहुँचने लगे
अभिमानिनी उमादे के।

भरमाये रखती हैं दासियाँ
लीक से हटने नहीं देतीं।

बचपन में मैंने ही सिखायी थी यह बान
मान करना, रूठना, हठ करना।
धार लगाने बैठे रहते हैं
मेरे ही सिकलीगर कुबान के।
जैसलमेर के सोढ़ी जी के
पत्र आते हैं लम्बे-लम्बे
उमादे तक पहुँचने से पहले
बाँचती हूँ मैं।
महलों के द्वारपाल मेरे।

मैंने हथिया लिया समस्त राज्य
जोधपुर का। अभय पंचोली मेरा दीवान
अन्तर्पट के इस ओर के
इशारों से चलती है रजवाड़े की व्यवस्था।

अन्नदाता चढ़ते हैं शिकार
अथवा रणक्षेत्र
लेती हूँ लेखा मैं हाकिमों से,
कोतवाल पर रखती हूँ नज़र,
हुक्म देती हूँ सभी को।
सरदारों, ठाकुरों, उमरावों के
झेलती हूँ जुहार।
बाँटती हूँ जागीरें !
सुनती और समझती हूँ
दाँव-पेंच राजनीति के !

अकेले नहीं रहने देती हुजूर को
आठों पहर बिलमाये रखती हूँ
अपने अवगुंठन की छाँव !

वीणा के स्वरों से रिझाती
गाती हूँ मनोहारी गीत
चितेरे बुलाती चित्र अंकित करने
विरुद बखानती हूँ
कवियों कलावन्तों की जुटाती हूँ महफ़िलें।

मनुहारें कर पिलाती हूँ भर-भर प्याले
भोग के दिखाती हूँ असंख्य भुवन
आने ही नहीं देती
कोई याद विचारों की दहलीज पर
रिझाये रखती हूँ नित नये शृंगार से।

सुना एक दिन
कविराजा ईसरदासजी से चर्चा करते
अन्नदाता को याद सतायी
रानी उमादे भटियानी की।
सन्ध्या के ढलते सूरज की ओर देखते
हो गये अन्नदाता एकाएक अनमने
दिगन्त की ओर तकते हुए।
तपती रेत पर टिका हुआ
सिन्दूरी आकाश,
वक्र क्षितिज को विखंडित करती
मनोहारी पर्वत की टेकरियाँ
सूने वन में अपने नीड़ों की ओर
उड़ते पखेरू
बगुलों की एक धवल पाँत
ऊपर से निकल गयी।

"कविराजा, देखूँ तुम्हारी सरस्वती का चमत्कार

यदि मना लायें रूठी रानी को ।"
उसका रूठना भुलाओ।

पहली बार मोह-भंग हुआ मेरा
धारणा के इन्द्रजाल से
दोष है कोई इस राजा के पौरुष में।
विस्मय हुआ मुझे
रूठ गयी परिणीता इस पुरुष की ?
हथलेवे का फ़कत दाग़ ही लगा
इस दूल्हे राजा के
वधू का स्पर्श ही नहीं हुआ इसकी देह से ?
घरवास नहीं हुआ इस अभागे का ?

और यह पुरुष भेज रहा है
एक कवि को
अपनी परिणीता मनाने की ख़ातिर ?

दो प्रेमियों के बीच
प्रीत का मौन ही रच देता हो जहाँ
सौ-सौ त्रिकुटबन्ध[1]
और मुखरित एक-एक शब्द
बन जाए सुपंखरा[2], सावझड़ा[3], मन्दाक्रान्ता,
फिर प्रीत के सिवा कौन-सी कविता
भंग कर सकती है
मान एक मानिनी का ।
मेरी समझ में
प्रेमी ही हुआ करते हैं कवि कालिदास।

1, 2 3 - डिंगल के छंन्द।

4, 5 - ढोला-मरवण, एक प्रसिद्ध राजस्थानी प्रेमाख्यान के नायक-नायिका।

कभी सुना है किसी ढोला ने
भेजा हो किसी अन्य पुरुष को
मनाने अपनी मरवण[5] को ?

क्यों नही यह पुरुष
थाम अपनी प्राणप्रिया के रेशमी कुन्तल
कर देता अछूता चन्द्रमुख आकाश की ओर,
और उसके नयन-दर्पण में डालकर नयन
कर देता नेह का वह संकेत
कि जिससे दामिनी-सी दमक जाये
नारी के रोम-रोम में
और मुग्ध हुई वह
ना करदे, ना किये जाये, ना
किये ही जाये।

धरती का भार धारण करने वाली
ये भुजाएँ क्यों नहीं बाँध सकतीं
अपनी भामिनी की पुष्प-काया ?
कोई दोष है इस राजा के पौरुष में।

और समस्त नारी लोक में
मैं भारमली ही मिली भाग्यहीना
जो सो गयी साथ इस पर-पुरुष के ?

जिस पुरुष को आने नहीं दिया
किसी रमणी ने अपने रूप-मंडल के निकट !
उसे जीतकर, गर्व करे भारमली ?

इतना पतन मेरा ?
दूसरी ओर मैंने
जिस-जिस रजवाड़े में क़िया पगफेरा
जगह-जगह मिली रानियाँ, राजकुमारियाँ,
जिनसे किये झूठे बखान
मैंने अपने मालिक के पराक्रम और पौरुष के
प्रीत, रीझ, भोग के ।
और रचती गयी चित्र
उनके भोले नयनों में
अपनी कल्पना के पूर्ण पुरुष के।
झूलती गयी नारियों के मन में
झोकें खाते रीझ के झूले पर।

भला लगता मुझे
नारी-लोक में बखानना
अपने पति को
और फिर सुनना
उसकी प्रशस्ति
अन्य नारियों के मुख से।

पर समझते ही पसीना छूट पड़ा मेरे अंगों से
मुड़कर पोंछ लिये
मैंने बहते आँसू।
भागी महल में दर्पण के रू-ब-रू
पसर गयी काली छाया-सी
नयनों के नीचे।
अवरोही यौवन के पनघट पर
ढल गये कुच-कलश

चमड़ी लटकती-सी लगी
भुजाओं की।

अस्वस्थ हो गई रानी भारमली।
मूर्ख वैद्य पकड़कर बैठ गये नाड़ी।
कुशल पूछने आये
अनेक स्वामिभक्त।
भाद्रेस के आशाजी बारहठ
ईसरदासजी के चाचा
पधारे अन्तर्पट के पास
सुनाये कतिपय कवित्त।
मैंने भी कहे दोहे नर पर नारी की विजय के
आशाजी ताड़ गये मेरे मन की पीर
कहाा–"सम्भालो मन को"
और चले गये उठकर
अजमेर की ओर।

मैंने भी मनौतियाँ मनाईं देवी की
मुझे मुक्त करो माँ
इन निकृष्ट भोग के मकड़ी-जाल से।
जिन अधरों को कोई नहीं जुठारता
वे मुझे क्यों परोसती है माँ
जिस गोद में कोई नहीं चढ़ता
वहाँ से उतार मुझे।
जिन भुजाओं में खेलता नहीं कोई
उनसे मुक्त कर मुझे भी।

फिर, सुना ईसरदासजी ने मना लिया रानी को
मान त्याग पालकी में बैठ गयी वह

जोधपुर आने को।
नारियल चढ़ाये मैंने देवी के
अतिशय आनन्द में नाचने लगा रोम-रोम
गर्व है मुझे
एक अहंकारी, रक्त-पिपासु
और नारी-मन की अभिलाषाओं से अनभिज्ञ पुरुष ने
मेरे कारण याद तो किया अपनी नारी को।
पलकों से बुहारी हुई सेज की
अनंग-रज से लोटी हुई काया
एक अनघड़ पुरुष की
स्पंदित तो हुई नेह के नगाड़ों की ताल पर।

जिस गांगा के वंशज ने
महल के झरोखे से गिरा दिया
अपने ओजस्वी पिता को
और इस पाप के चिन्ह धोने को
बहाया रक्त
स्वामिभक्त भानु, और मूला पुरोहित का
जोगी जसनाथ का।
उसे सुवास तो आयी कुँवारी माटी की
हथेली रची मेंहदी की।
हवन की साक्षी में परिणीता
नारी के लजीले पसीने की।
मैं खाद की तरह रिलमिल गयी
एक पुष्प के विकास में।
व्यर्थ नहीं गया मेरा गीत-संगीत से रिझाना
अंग मरोड़ना, अंगियाँ उतारना।

जानती हूँ
नहीं जन्मी मैं किसी राजा के घर।
जन्मी नहीं किसी रानी की कोख से।
और फिर मेरी कोख से जन्मा भी
नहीं बनेगा राजा।
पर मुझे पछतावा नहीं है
अपने नाम-जाति-कुल-विहीन जन्म पर
न बन सकूँ चाहे राजकुँवरों की माता
एक सम्पूर्ण नारी तो बन गयी मैं।

तभी समाचार मिला
कोसाना से लौट गयी रानी की पालकी।
आशाजी बारहठ ने कहा बताते हैं एक दोहा
मान और प्रिय के दो-दो गजों के
एक ही खूँटे से न बँधने का।[1]

बड़ा क्रोध आया बारहठजी पर
मेरी साधना पर फेर दिया पानी
मुझे उबारने की उमंग में।
सचमुच, पागल होते हैं दोनों ही – कवि और प्रेमी !

विराग

मंज़िल दिखती नहीं !

---

1 मान रखै तो पीव तज पीव रखै तो मान।
दो दो गयन्द न बधसी. अेकै कंबू-ठाण।।

शोध-यात्रा पूरी नहीं हुई अभी
और भटक गई भारमाली !

दस वर्षों में तीस मुल्क़ जीतनेवाला
अपराजेय उमराव
नहीं जीत सका
फ़क़त एक दासी नारी का मन !
छू नहीं सकता कोई बौना
गगन में विचरते चाँद को।

वासना के हठी विकारों के बीच
सेजों पर बल खाती
भोगती मैं अगम्य तृषा
छटपटाती राजा के आलिंगन में
और अंगदान में याद आते हैं मुझे
अनेक पुरुषों के चेहरे !

बेचैनी, बेचैनी, सिर्फ़ बेचैनी !

युद्ध करते हैं आये दिन रावजी
आज मेड़ता तो कल सोजत
आज लाडनू तो कल चाँणोद !
क्षत-विक्षत वीरों को
छोड़ आते हैं रणक्षेत्र में
और फिर मन्त्रणा करते
जैतारण, जालौर पर आक्रमण की !
आज खींवा को मरवाया।
कल जूस को।
जैता कूँपा और चाँपा-जैसे वीर भी

डरते हैं उनके प्रकोप से।
गरजते आते मरहठों के दल-बादल
घुमड़ते, मेघ बादशाह शेरशाह के
बरसेंगे अजमेर या जोधपुर
इसमें सन्देह नहीं !

धूल उड़ाती फिरती हैं फ़ौजें
एक वातचक्र पर चढ़े हैं
मानों सभी सरदार-सूरमा।
चाक-से घूम रहे हैं अमीर-उमराव
और राज्य-तंत्र !

इधर दिग्विजय की लालसा लिए
भारमली,
मानती मालदेव को निरा मरुस्थल
जिसे जीतने पर लगता मानों,
व्यर्थ हुआ संघर्ष !
कोई नया मुल्क़ जीतूँ

बेचैनी, बेचैनी आठों पहर बेचैनी
दो दिन भी तो नहीं टिकते
राजा अपनी जीती हुई धरती पर।
छूते नहीं वहाँ के वृक्ष
सूँघते नहीं वहाँ के फूल
नहाते नहीं वहाँ के पोखर-तालाब में
देखा नहीं कभी
जीती हुई धरती की मायावी सुन्दरियों के संग,
आनन्द भोगते राजा को।

सुनती हूँ फ़क़त रक्त के परनाले बहे
सुनती हूँ फ़क़त मुंडों का चीत्कार !
और मानव-संहार के पराक्रम का थोथा अहंकार !

युद्ध से लौटते योद्धाओं की
उतारती हूँ जब आरती
झाड़ती हूँ पोशाकों पर से चढ़ी धूल
और धोती हूँ धब्बे लगे कवच।
लगता है जैसे मैं पोंछती हूँ
सिंह, बघेरों और रीछों की
लपलपाती जीभें।
शूरों के शीश पर प्रहार करते सुभट
क्या सचमुच भूल जाते हैं
अपने कन्धे पर टिका
फूल-गुँथा मेरा शीश,
सन्ध्या की सिंदूरी चमक में ?
वीरों की छाती
पर भालों के आघात करते
वे भूल जाते हैं क़्या
अपने सीने पर स्पर्शरत
पयोधर मेरे ?

ध्वस्त किये वीरों के पेट से
निकलती हैं जब अन्त्रावलियाँ
क्या उन्हें याद नहीं आती
मेरी नाभि के पास उगी रोमलता ?

खड्ग-स्नान करने वाले मेरे मालिक ने
कभी भी तो नहीं की कामना
छाती से लगाकर मुझे
बरसते मेह में भीगने की !
और जब-जब अपने अमृत परस से
वाणी में मद घोलकर
प्रार्थना करती विश्राम करने की
कर देते हैं वे मुझे निर्वसन
दासियों के देखते-देखते
और पशुवत् बुझा लेते हैं
अपनी भूख आवेश में।

संहारधर्मी कहाँ समझते हैं
सूक्ष्म भोग का स्वर्गिक मर्म !
पूरे वर्ष में सुना नहीं
एक बार भी
विरुद मेरे रूप का हुजूर के मुँह से !
मिलन ही होता नहीं
एकान्त भी मिलता नहीं
तरस गयी सुनाने को गीत-संगीत
अलबेले राजन् को !

कभी घनघनाने लगते हैं युद्ध के नगाड़े
आधी रात में
और मुझे सेज पर अधूरी छोड़कर
यकायक चले जाते हैं उद्विग्न चित्त
मूँछें फड़काते रणरसिक !

बजने लगते हैं घोड़ों के पोर
कसे जाते हैं तंग
और घोड़ों से 'बाप, बाप' बोलते हुए
बाँके सवारों का सुन पड़ता है स्वर
'प्रयाण-प्रयाण'।

थिर हो गया कुठौर
उन्मत्त आरोही यौवन !

धरती मेरी सौत
जिसे हथियाने
रक्त की बहती हैं धारें
और मैं एक जीवित नारी
खंडित, प्रतीक्षारत हूँ सूनी सेज पर
कमान ज्यों देह मरोड़ती।

पन्चोली दीवान मिलाता है मुझे
अनेक लोगों से
पर मन मानता नहीं
कोई नहीं समझता मेरे निगोड़े मन को !

ड्योढ़ी के पिछवाड़े खिंचवाकर
मदिरा-दुबारा चौबारा
बिन साथी-संघाती अकेली
खम्भे पर देकर छींटे
पीती हूँ अग्नि-ज्वाल
अरुणोदय से आधी रात तक।

देखती हूँ प्रत्यक्ष
गुप्त प्रेमलीला दासियों की !
बारी-बारी बुलाकर पूछती हूँ
सिन्दूरी सेज के सहवास की
प्रेमकथाएँ !
विभिन्न अनुभूतियों का अनहद रस
पीती हूँ मन-ही-मन !
फिर भी तृप्त नहीं होती !

किसी भयभीत दासी के वसन उतार
खेल लेती हूँ उसके अंग-अंग से
और बन जाती हूँ भारमल्ल कभी-कभार !

क्यों चंचल है मन इतना ?
कब किया लोभ मैंने रानी बनने का ?
कब किया लोभ कि मेरे कुँवर
खेलें राजा के पलने में ?
तब भी भटक गया रूप, राज्य के जंगल में
करना पड़ा कितना छल
अनचाहा भोग करने में !

रूप की बाज़ी में विजयी होने पर मुझे
मिल गया बिन माँगा राज्य
और एक महाराजा
जो रक्त की धाराएँ बहाते
सूँघ नहीं पाता रक्त की काम-गन्ध
और सुन नहीं सकता रक्त की चाहत
एक नारी के सम्पर्क में आने पर भी !

मरुस्थल के मार्गविहीन विस्तार में
आक्षितिज घूमते हैं आखेट करते पशु
आकाश में मँडराते हैं गिद्ध
उड़ते हैं अनलपक्षी
आती हैं आँधियाँ
और उठते हैं बगूले !

यहाँ कहाँ है गंगा जल ?
यहाँ कहाँ कल्पवृक्ष की छाया ?
यहाँ कहाँ मेघों के मेहराब ?
और फूलों की सेज कहाँ ?
उतर गया भोग का प्रथम ज्येष्ठ-आषाढ़
चलो बदलते हैं पड़ाव।

विडम्बना

प्यास के पहले पड़ाव से
दूसरे पड़ाव !

जैसलमेर आ गयी हूँ अपने पीहर
किसी ने उलाहना नहीं दिया
उमादे के साथ घात करने का।
मालदेवजी की अंकशायिनी से
प्रकम्पित लगते हैं गढ़-दुर्ग।

ध्वजा-सी फहराती हूँ मैं।
देश-देश के आकाश पर
मन के मठ-मंदिरों पर।
आँख ही नहीं मिलाता कोई।

बूढ़े ड्योढ़ीदार
मुझे देखते ही
हो गये दुगुने बूढ़े।
नज़र बचाने को करते हैं
झुक-झुककर जुहार।
माली, न जाने कब रख जाता है
चौकी पर रंग-बिरंगे फूलों की मालाएँ।
मुझे पूजा करती देख
आरती भूलकर
चंदन टपकाती उँगली से
स्पर्श कर मेरे ललाट का
काँपने लगे पुरोहितजी।
नाम सुनते ही साँप सूँघ गया
रसोईदारों को।
चिपक गई तप्त तवे पर उँगलियाँ
और शंकरिया को अपने लहँगे धोते देख
रोक नहीं सकी मैं
अपने अधरों पर छलकती मुस्कान।

बचपन के छली संघाती
सिर धुन-धुन पछता रहे हैं
अपने कामुक अनुरागों पर।
और इतराती हूँ मैं
अपने मनचीते पीहर में

लालसा करती बताशे, फूल, जूठन की
गुड़िया, गुटके, चिरमी और चित्रों की।

कुँवरानी बजातीं मेरी हाजरी
मिश्री-घुली वाणी में
हँस-हँस पूछती हैं
मेरे हीरे-मोती जटित
आभूषणों का मोल,
परखती हैं पोशाकें मेरी
सराहती हैं मेरे हाथों पर अंकित मेंहदी
कुमकुम, काजल, सिंदूर, ईंगूर
और अंगों का केसरिया रंग।
हारे-से पिता
किसी अकथ पीड़ा से सराबोर,
टुकुर-टुकुर देखते हैं मुझे
और बिन बोले सुलझाने लगते
हुक्के की नाल के बल।

मशविरा करते हैं दीवान मुझसे
और चतुराई से
भाँपते हैं पुरुषार्थ मालदेवजी का।
चारण विरुदाते मेरा यश
भाट बखानते हैं मेरी पीढ़ियाँ
लंगों की सारंगियों पर बजते हैं
मेरे नाम के गीत।

आशामुखी दासियाँ, डावड़ियाँ
नयनों में गुमान के बादल छिपाये
मेरे रुतबे से सम्मोहित

हर संकेत पर न्यौछावर
मेरे नाज़ उठाती हैं
पलकें बिछाकर मेरी नज़र उतारती हैं।

कोई नहीं जानता
पर मैं राजमद की खुमारी उतरने पर भी
सुखी हूँ।
हल्का है मन
सपनों की सीढ़ी-दर सीढ़ी उतरते
व्यतीत हुए अतीत से।

जिधर देखती हूँ
उधर नज़र आते हैं मुझे बने हुए
कुलधर्मी, चतुर और चरित्रवान् लोग।
अत्यधिक सदाचार का
स्वाँग रचाये दिन में
पशुओं से अधिक निर्दय-क्रूर
रात के आँधियारे में।

या दिखती हैं
लाज-संकोच का दिखावा करती नारियाँ
उमंग-युक्त
साहस के अभाव में !

परख लिया अनेक शूरवीरों को
मन की बात नारी तक पहुँचाने में
जिनकी भाषा डूब जाती है

---

1. शीश के आभूषण को बाँधने के डोरे।

थूक के झागों में
और चमकने लगता है पसीना ललाट पर
कँपकँपी हो आती है घुटनों में !
डरते हैं मन की कुदरत को
शय्या पर सँवारते
प्रतीक्षा करते हैं अँधेरे की काली चादर
के तनने की।
पर दुन्दुभियाँ बजाते, भरी दोपहरी में
मनुष्य को मारने पहुँच जाते युद्धक्षेत्र में
लज्जित नहीं होते
गणना करते हताहत मानवों की
उँगलियों पर !

इधर मतिहीन नारियाँ
अस्वीकार करतीं मनभावन प्रस्ताव
लजातीं निर्वसन होने में
समादृत करतीं पुरुषों के किये छल
बँध जाती हैं
आटी-डोरी[1], कंठहार, करधनी, कड़ियों,
और बिछुओं के लुब्ध बँन्धन में।

मानवता का ओढ़ा हुआ मिथ्या आवरण
समाज का सिरजा हुआ छल !

देह का खिंचाव
देह का भोग नहीं है केवल
पुकार है रक्त की
सुनते हैं सुर नर मुनि जिसे

त्रिलोक में।
और देते हैं प्रत्युत्तर
हाड़, मांस के रंग-राग रचित
शरीरों से।
शीश काट अर्पित करना पड़ता
अनंग की साधना में
और मन को करना पड़ता ऊर्ध्वमुखी
एक कमल से दूजे कमल तक
योगी ज्यों समाधि में !

कस्तूरी लोक के इस सुवासित आकाश तक
पहुँचे प्राण बन जाते
रक्त के अणु-कण
और दोनों को एकाकार कर
जन्म लेते इस ज्वाल से
शत-शत ब्रह्मांड

मिथ्या नहीं होती रक्त की पुकार
नहीं भरमाता वह नर या नारी को
क्योंकि रक्त सोचता नहीं
केवल अनुभव कराता है।
फिर सेज के अगोचर सुख को नकारने वाले,
स्वयं को वस्त्रों से ढाँपने वाले,
सदाचार से छलने वाले,
तन से परे रह कब पहुँच सकते
अचेतन के स्वर्णिम समुद्र के उस पार !

ज्यों-ज्यों सुनती हूँ वृत्तान्त
जैसलमेर के कुँवरो की रसिकता के,

देखती हूँ दासियों से आलिंगन-बद्ध
छैले-रसिक,
मिलती हूँ दुर्ग में यहाँ-वहाँ फिरतीं
मनमोहिनी रखैलों से,
युवा कुँवरों के दुष्कर्मों की गाथाओं पर
रीझती हूँ मैं।

अनेक संकेतों से
प्रत्युत्तर दिये मैंने
कुँवरों के रक्त सौरभ को !
हर गवाक्ष पर रख दिये
भावना के दुग्ध भरे रत्न कटोरे
रक्त की अग्नि-ज्वाल से जनमते
सुनहरे सर्पों के लिए
और प्रतीक्षा करने लगी
एक नयी कविता के जन्म की।

एक रात खड़की अर्गला
सुन पड़ी चोर-जैसे व्यभिचारी चरणों की आहट !
करवट लेकर साँस रोक ली मैंने
गहरी नींद के बहाने
कि होनहार को हो जाने दूँ।
शायद, थोड़ा सरक गया था लहँगा
और उघड़ गयी थी एक जंघा मेरी।
शायद, एक हाथ पड़ा था मेरा
अनावृत छाती पर

शायद, खेलती थी मेरे अधरों पर

---

1. मसालेदानी-नमक, मिर्च, हल्दी आदि रखने का पात्र।

मदमस्त मुस्कान !
शायद चितेरी विभावरी पलंग पर बैठी
भरती थी, कुमकुम केशर
चाँदनी की तूलिका से
मेरे रति-अंगों के स्वस्तिक में।
कौन जाने कुँवरजी कब से
ठगे से निरखते थे
सुनहली हटड़ी[1] के हल्दी मिर्च का
सलोना रंग मेला।

अगल-बगल हाथ पड़ते ही
सोढ़ीजी ने पायी होगी शय्या सूनी
अकुलाहट से उड़ गयी होगी नींद
और पहुँची होंगी वे कुँवर को खोजतीं
शयनकक्ष में मेरे।

मच गया कोलाहल शय्या के आस-पास !
अश्रु की लड़ियाँ उतर गयी
सोढ़ी के कपोलों पर।
और सिसकती कुँवरानी
माखन चुराते कृष्ण-ज्यों
निःश्वास छोड़ते पति को
बाँह पकड़ वापस ले गयीं सुबकती हुईं
अपने महलों में।
अगले दिन पलकें झुकाये
मिली कुँवरानी
और ओठों पर जीभ फेरते
कुँवरजी।
बात आयी गयी हो गयी।

पर अगली रात क्या देखती हूँ कि
छमछम करती एक दासी
अजानी माया-सी
खोल आधा किवाड़ घुस आयी मेरे शयनागार में।
आकर बैठ गयी मेरे पैंताने
अपलक देखती रह गयी मैं।
दबाने लगी वह मेरे पाँव
पर घूँघट सरकते ही खुल गया भेद
बहुरुपिये कुँवर का।

कई रातों तक बिगाड़ी मेरी नींद
इस दासी ने।

दबाती पाँव मेरे, चाटती पगतलियाँ
काटती पिंडलियों पर
दबाती जंघाएँ सीत्कार करती
दाँत गड़ाती वक्ष की रोमावलि में।
चूमती ठौर-कुठौर
मैं पड़ी रहती चेष्टाहीन, निष्क्रिय
विवश हो सीखनी पड़ी मुझे विपरीत रति।

चुराया नहीं जाता भोग
और चोरी से भोग सकते नहीं दो तन
एक दूजे को !
मन के राजपथ से चलकर
भले ही कोई पहुँचे नारी के अंगों तक
पर अंगों के माध्यम से
नहीं पहुँच सकता कोई

प्रिया के हृदय प्रान्तर तक !

असम्भव है शब्दहीन व्यंजना
दो देहों की
मन की वाणी के बिना !
राग-रीझ के बिना
अंतरंग सम्वाद के बग़ैर
रूठने-मनाने के बग़ैर
चोर की नाँईं चुपचाप
अंग-प्रत्यंग छुआने वाले
भ्रष्ट करते हैं कंचन काया
गगनस्पर्शी अन्तर्मन
और भोग की अपरूप आत्मा को !
नराधम हैं वे !

कभी नहीं हुआ कुँवर से
हँसना-बतियाना
नहीं खेले रीझ के चौपड़-पासे
नहीं खोली मन की ग्रंथियाँ
परस्पर !
मात्र कीचड़ में धँसे रहे दो तन
आलिंगन के भ्रम में
और पश्चात्ताप ही दिया एक-दूजे को
दो मनों ने, रति-क्रीड़ा के छलावे में।

अपने अंक में नहीं लिया मुझे कभी
मालदेवजी ने उमा के भ्रम में।
सम्मान दिया उन्होंने एक अद्वितीय रूप को
छिपाकर रखी नहीं अपनी प्रीत

और किया नहीं छल से भोग !
इस सीमा तक रहा वह मेरा भरतार
अभिमानी पुरुष।

पर ओछा उतर गया वह मेरी तराजू पर
भोग के सम्पूर्ण अर्थों में
भोग सका नहीं नित नयी जीती हुई धरती
नहीं रिझा सका भारमली के सिवा
किसी अन्य नारी को।
अपूर्ण वीर, अपूर्ण भूपति।
अर्ध पुरुष, अर्ध रसिक !

दूसरी ओर मैं भारमली !
मोड़ दिया जिधर वाहन अपने अंगों का
किया संधान जिधर यौवन के पुष्प-धनुष का
कीं संचालित जिधर रूप की खड्गें
डंके की चोट जीत लिये मन के दुर्ग
ध्वस्त कर दीं शूरवीरों की अक्षौहिणियाँ।
सम्पूर्ण भोग से कम
न लिया, न दिया।

और अलबेला राजकुँवर यह ?
एक कापुरुष !
रक्त की मिथ्या सुगन्ध के कलंक का
कलुषित धब्बा !
कहाँ आ गयी मैं ?

मानों मानसरोवर का हंस
उतर गया हो मोती चुगने छिछले पोखर में !

करतूरी मृग भटक गया मरुस्थल मे मानों
पहुँच गया हो गँधाते दलदल में।
अभी पहुँचा नहीं जल क्यारियों तक
ढलका नहीं नालियों में भी
लगता है सींचने वाले ने ही
रोक लिया है जल को !

प्रीत

प्रारम्भ ही हुई है सत्रहवीं शती
पराजित हुए युद्ध में मालदेवजी
शेरशाह की सेनाओं से।
समेल का युद्ध-क्षेत्र अभी
बाँध रहा है पट्टियाँ
घावों पर।
भाग गये राज्यविहीन राजा अज्ञात पर्वतों में
बिखरी चतुरंगिनी की धुरी जोड़ते।

दया आ गयी मुझे रावजी पर !
रूठ गई मेरे कारण जिनकी
परिणीता रानी
और मैं भारमली जिस कारण
फेरकर पीठ लाँघ आयी घाटियाँ
वह धरती भी निकल गयी

उनके पैरों तले से ?
रह गये होंगे एकाकी बेचारे रावजी।

सफलता के सोपान चढ़ते हर पुरुष के
साथ होती है एक नारी
जो सचेत करती है उसे
ठोकर खाने से पहले, भूल करने पर !
अंगों के माध्यम से देती है
जीवन का ध्येय-पुष्प
और प्रेरणा का गंगाजल प्राणों को।

रीझ से रिक्त नहीं होता पुरुष का मन
भोग निर्मल करता है नीर और भरा रखता है पनघट।
नारी माँ होती है अपने प्रियतम की।
क्यों जीतता है कोई राजा परायी धरती ?
क्यों ध्वस्त करता है किसी के दुर्ग-कोट ?

"महारस के भोग की ख़ातिर।"

पर सबसे पहले भूल जाता है
उसका ही स्वाद
बगूले में फँसे बाज़-सा छटपटाता है
बाहर नहीं निकल पाता।

एक पूर्ण पुरुष की खोज में
प्यासी रह गयी मैं
कठोर भुजाओं के आलिंगन
फूलों से सँवारी सेज
और कामुक गोद

बाँध नहीं सका मुझे राज्य का बन्धन
और प्रतिदिन वसन उतारने वाले मेरे
नहीं कर सके मुझे निर्वसना।
न मैंने किया अधिकार किसी पर
न करने दिया किसी को अपने पर।

मधुवन के अगणित सुगंध झकोरों में
जो खोजते रहे अकेली मुझे
वे शीश कटाकर भी नहीं पहुँच सके
मेरी पुष्प-रज के पास।

ऋतुराज की कुहुक से आकर्षित
मैं स्वयं एक लड़खड़ाता सौरभ
अपने पीछे भ्रमर-वाहिनी का जयनाद सुनती
पूनम के पूरे अन्तरिक्ष को
समेट लिया अपने आँचल में
महारस के उद्‌गम
एक पूर्णचन्द्र को लगाकर वक्ष से
अमृत पीने के लिए।

घर-घर बैठी हैं आधी-अधूरी नारियाँ
चूल्हे फूँकतीं, चूड़े पहनतीं
शय्या पर लोटतीं
केवल पति को अपना मानतीं

कटि पर बँधी करधनी के उनमान !
और आँगन-आँगन उत्पात मचाते
ये प्रेमिकाओं के अपूर्ण पुरुष
अपनी सम्पदा समेटते

अपना वंश बढ़ाने
अपनी भामिनियों में गर्भ गढ़ते।

सुना है राव मालदेव ने विवाह कर लिया
झाली हीरादे से
रानी सोनगरी भी आ गयी है महलों में
भाँवर चढ़ गयी है यादव-पुत्री राजबाई
आहाड़ी लाछाँ का भी वरण किया है महाराज ने
परिणय हो गया है झाली सुरूपदे से
और जीत लाये हैं लाछलदे को।

भले ही शुक्लपक्ष में प्रतिदिन
और कृष्ण पक्ष में हर रोज़
राजा ब्याहते रहें नयी-नयी रानियाँ
मुझे क़तई नहीं कोई पछतावा
संसार की किसी भी सुन्दरी से
मेरी नहीं होड़।

अचरज की बात तो यह है कि
मेरे अभाव की पूर्ति के लिए
अग्नि की साक्षी में सजती हैं
पच्चीस राजकुलों की कन्याएँ
और मुझ पर कुछ भी असर नहीं होता
राजा के पौरुष का !
ईर्ष्या नहीं होती किसी के सुहाग से !
एक नारी ही पर्याप्त है
पुरुष के अभाव को पूर्ण करने में।
रानियों की चतुरंगिनी भी नहीं भर सकती
अभाव उस एक नारी का।

गणिका टीपू से जन्मी
राजकुमारी राव मालदेव की।
मैंने ही पहलकर नाम रखा उसका रुक्मणी !
नहीं हुई मुझे ईर्ष्या
न दर्द उठा मेरी कोख में !
न स्वाद बदला मेरे मुँह का।

क्योंकि मैं वारांगना नहीं हूँ
क्योंकि मैं महारानी नहीं हूँ
मैं मात्र एक नारी हूँ विशेषणहीन
पुरुष की संगिनी युग-युगान्तर से।

भोग का भेद समझे कौन ?
हज़ारों गोपियों में रास रचाता
कोई नटवर हो
भारमली का भरतार !
नेह का अक्षय निर्झर
मेरी नैया का खेवनहार !

किसने सजायी है यह महफ़िल
कौन अतिथि आया है गढ़ में ?
मेरे रूप के जादू से अछूता।
चकोर की मानिन्द तकते जिसकी ओर
संज्ञाहीन पुरुष
और जिसकी प्रेम-गाथाओं में
मछलियों-सी तैरती हैं
स्वप्नमग्न नारियाँ ?

---

1. एक पक्षी

कुमकुम के चिन्ह मँड जाते हैं
जहाँ धरता है वह चरण
और जिस ओर उसकी नज़र पड़ती है
खिल जाते हैं सोनजुही और
चम्पा के फूल।

सुना है जिस किसी धरती को जीतता है
बाँट देता है अपने साथियों में।
भोगता है सम्पूर्ण सुख धरती का
भर-भर प्याले पीता है अंगूरी आसव
और मनुहार कर-कर पिलाता है
साथियों को, बान्धवों को !
भोजन करता नहीं अकेला।
आखेट कर झोले भर-भर लाता है तिलोर[1]
बाँट देता है घर-घर।
गीत-संगीत की मजलिसों का साहिब

साथियों का सिरमौर
प्रोल भरी रहती है पाहुनों की पगरखियों से
ढोल-मिरासी सवेरे उसका नाम लेकर
घर छोड़ते हैं
और कविता के बोल सुनकर
सम्मोहित गुणीजन
अपना सिर धुनते हैं।
रूप की एक पीड़ा होती है
रिसते घावों से भी गहरी
संगीत के स्वरों से भी तीखी

अकथ्य और अरूप।
अनुरागी की दृष्टि में जन्म लेता है वह
और रसिक की नज़र से
गिरते ही
अकाल मृत्यु हो जाती है उसकी।
रूप की कोई उम्र नहीं होती।
नहीं तो, जिस नारी को रात सजाते देखा
मैंने बाघाजी को
गाल पर लगाते तिल
वेणी में फूल सजाते
चाँद-सी बिंदिया बनाते
पाँव में मेहंदी रचाते
नखों को सँवारते
और इत्र-फुलेल से कर आलिप्त उसे
गले लगाते
वह तनिक भी सुन्दर नहीं थी।
और इधर मैं
जो एक ही दृष्टि में हाँक दूँ
हज़ार-हज़ार ऊँटों के झुंड !
उँगली के किंचित संकेत से डुबो दूँ
समुद्र में बतखों-सी तैरती
असंख्य नौकाएँ।
एक मुस्कान में छुड़ा दूँ
महीनों के मुकुट-सिंहासन !
पिछले कितने दिनों से
गहर-घुमेर लहँगे के फटकारे देती
घूमती हूँ बाघाजी के महलों में।
पर मिलता नहीं मिलन का संयोग,
जितनी बार मिलने की

चेष्टा की मैंने एकान्त में
वे मिले मुझे युगल रूप में ही
और टलते गये
मिलन के मुहूर्त मेरे !

तिल से भी छोटा हो गया मेरा अनिंद्य रूप
और हिमालय से बड़ी हो गयी
उस अलोनी दासी की
विवर्ण आभा।

पहली बार आँचल पसार माँगा मैंने
एक पुरुष की प्रीत का अमृत-कलश
जो फोग और फली-सी दासी को
कसता जाता है भुजाओं में
समाधि में लीन होते सिद्ध ज्यों।
धन्य है
स्वप्नलोक में अवस्थित दासी
तुझे धन्य है
सरवर के निर्मल नीर सदृश भोगनहार को।

कब दूँ इस पराक्रमी पुरुष के
शीश को विश्राम
अपने वक्ष के शिखरों बीच ?
कब झेलूँ पूर्ण शशि-मुख पर
अधर-गुलाब के विदग्ध घाव ?
और आलिंगन में कसती, कसी जाती
हो जाऊँ इस लोक से अन्तर्धान ?
पहली बार मोह जागृत हुआ
मुझ मुग्धा के प्राणों में !

पहली बार अभिसार का सुख लेने को
चली भारमली !

तालाब के घाट पर रोका ऊँट बाघाजी ने
चारा डालने के बहाने।
मैं झनकती पायलों को
मौन रहने का संकेत करती
खंजन-नयनों को चहुँ ओर उड़ाती
अंगों की दामिनी-दमक को
पचरंगी चुनरी से ढाँपती,
पहुँच गई कनेर की कलियों के तले
मिलन-सुख की बरखा में
भीगती-भीगती।
नत सिर, उष्ण कपोल
लज्जायुक्त लाली कानों पर और स्वेद भीगी हथेली
पीपल के पात-सी थरथर काँपती।
पहचान लिया पहली नज़र में मुझे
अविलम्ब बिठाया ऊँट पर
और हाँकते, ले चले मुझे।
उड़ने लगे हम बादलों में
त्वरित बिजली के उनमान।

बाघाजी का प्रथम स्पर्श पाकर ही
दस हाथ ऊपर उठ गयी मैं
कुमकुमवर्णी ऊँट पर अधर।
एक पुरुष के वक्ष में मुँह छिपाकर
कसकर मूँद लिये मैंने विशाल नयन

सपना टूट जाने के भय से।

समाता नहीं मेरे तन-पिंजर में
नेह का रत्नाकर !
हुलस-हुलस रह जाती हूँ
सिर धुनती हूँ भुजाओं के सीमा-तट पर।
पानी में दूध-सी घुल जाती हूँ
रच-बस जाती हूँ इस चन्दन-पुरुष से
विहँसती लता के समान !
उन्माद की हिलोर में
विलुप्त हो गयी सम्पूर्ण चेतना।

तपती होगी टीलों की
जलहीन धरती
सूखती होंगी काँटेदार खेजड़ियाँ
करती होंगी विदग्ध तपती लुएँ
सूने आकाश को !
प्रखर धूप का प्रकोप
तप्त करता होगा दिशाओं को !
मेरे चहुँ ओर उगी है
बौराई-सी अमराई
महमह महक वाले नींबू के पेड़
खिल उठी धरती,
झमाझम बरस रही हैं सावन की घटाएँ
दूध-सी बरसात से छलक उठे हैं।
क़दम-क़दम परताल-सरोवर।
भीगी-भीगी पुरवैया गा रही है।
और चन्दन के वन से आच्छादित है सारा आकाश !
बादल बना है ऊँट का पर्याण
और आकाश पर पग धरती

मैं पहुँच गई दूसरे ही लोक में।

सार्थक हुआ यह समर्पित रूप।
यह भोग का इन्द्रलोक है
जहाँ धरती और मेघ करते हैं
इस आनन्द-क्रीड़ा का स्वागत !

जो बाघाजी भोग सकते हैं
एक कुरूप दासी को
मेनका उर्वशी के उनमान
और पहुँचा सकते उसे किन्नर लोक में।
अपनी अलमस्ती में
खोज लिया है उन्होंने भोग का आनन्द-कोश।
बाघाजी के सान्निध्य बग़ैर
भारमली है झीनी रज देव-चरणों की !
मर गयीं संसार की न जाने कितनी कामिनियाँ
प्यासी, व्याकुल, मूक !

गर्वित है भारमली का नारीत्व
मात्र मुझे ही चुना उन्होंने !
मैं भी ठगी गयी अनंग के नाम पर
न जाने कितने अंगधारियों से।

समझा लोगों ने भारमली चहक रही है
जोधपुर, अजमेर, जैसलमेर के राजमहलों में
और मैं, महादेव को चढ़ाने योग्य
कलियों-पुष्पों से पूजती रही
दुर्बल पुरुष, अधूरे प्रेमी
चोर और अधम।

बाघाजी ने साकार करली अपनी कल्पना
जो कुहुक रही थी जंगल-जंगल
और एक भटकता अर्ध-मंडल
मिल गया दूसरे अर्धमंडल से
धारण करने को आकार एक सम्पूर्ण मंडल का !

बाघा मेरे भव-भव का भरतार।
जूठन समझकर मेरी आबरू नहीं उतारी
समझ लिया मर्म द्वार-द्वार भटकने का
गली-गली रास रचने का
बिन बताये।

बाघा मेरे भव-भव का भरतार।
रूठती नहीं जिसकी परिणीता
जिसकी छीनता नहीं धरती कोई
जिसकी भोग्या हूँ मैं अनन्त, न पहली न अंतिम।

बाघा मेरे भव-भव का भरतार !
जो देह के पावन रूप का करता है
सच्चा आदर
पूरे मनोयोग से
मुक्त होती जिसके पौरुष में नारी की कल्पना !

बाघा मेरे भव-भव का भरतार !
जिसे नहीं है ईर्ष्या किसी अन्य पुरुष से
समझता नहीं नारी को जीती हुई सम्पदा
बाँधता नहीं आखेट में घायल कर लायी हिरनी ज्यों
लगाता नहीं उसे दाँव पर।

बाघा मेरे भव-भव का भरतार !
जिसकी आसुरी भुजाओं में
कसने दूँ अपनी विद्युत-काया !
अनावृत करती रहूँ बार-बार आवृत को
मूँछों से लगाये रखूँ पाँखुरी अधरों की
और झबझब करते अंक में
रक्त का उन्माद ढालती रहूँ !

बाघा मेरे भव-भव का भरतार।
जिसके तन की पाज लाँघकर
पहुँचती एक नारी, मन के सरोवर
और उस निर्मल जल में होती एकाकार
चाँद की प्रतिछाया के अमृत में।

बाघा मेरे भव-भव का भरतार !
जो समझता नहीं मुझे माटी की लोथ
गिलोने का आम, चूसने की निंबोली।
आधा अंग अर्पित करके
जो पूजता है मुझे मन से सिंहासन पर गौरी ज्यों।

बाघा मेरे भव-भव का भरतार !
अर्थ दिया जिसने मेरे जीवन को,
रक्त को अनुरक्त कर
रूप को सिखाया संगीत
और कविता दी अरूप प्राणों को

बाघा मेरे भव-भव का भरतार !
भोग को बदल दिया भक्ति में
ध्यान धरकर अर्चना की

देवों की आरती के समान
जोत जगाई देह के देवालय में।
बाघा मेरे भव-भव का भरतार !

आप

मेरी प्राणहीन देह काँधे पर उठाये
आप क्यों भटके अम्बर-अम्बर ?
पर्वत-पर्वत, धरती-धरती, वन-उपवन ?

एक ही अहेरी क्यों मारता हमें बाण ?
एक ही हुताशन में क्यों आहुति बने हम दोनों ?
एक ही पवन क्यों उड़ाता है हमें
जीवन के आकाश पर ?

अपनी बात करते-करते मैं
क्यों करने लगी आपकी बात ?
क्यों बदल गये स्वर मेरी कथनी के ?

आपसे सम्बन्ध होने पर
दृष्टि ही बदल गयी है मेरी ।
मरु के कण-कण में नाचते दिखते हैं निर्झर

---

1. सावन-भादों में तृतीया के दिन मनाया जाने वाला महिलाओं का वर्षाकालीन राग-रंग का उत्सव।
2. माँड - एक राग विशेष।

कामलताएँ लिपटी कल्प द्रुमों से,
रंग-झड़ी लगी अनगिनत धूल सने फूलों पर।
झोंटे दे झुलाते हैं रत्नगर्भा धरती को
सावन-भादों के मेघ।
बिजुरिया को तीज[1] रमाते हैं रसिक बादल

मेरी पचरंगी चुनरी को ढाँपने
भीगते हैं आपकी सुरंगी पगड़ी के पेंच !
सितारों को साथ-साथ निरखते-गिनते
आपने सिखाया मुझे मूक रहना
सिखाया पूर्णचन्द्र की कांति को पीना
और सिखाया स्वर्णिम रंग भरना
रजनी की साँवली हथेली में !

गाता है माँड,[2] मरु का सन्नाटा
भरता है स्वरों का मेला
चिलचिलाती धूप में
पुरवैया की पायल में रागिनियाँ झंकृत होती हैं
आपके सान्निध्य में !

मीठी लगती है आपकी दी हुई पीड़ा
अधरों पर ताज़े घाव दाँतों के
नखों से छिदे उरोज
और चुभा हुआ काँटा केवड़े का
तन के रेशमी आँचल पर !

अनहद सुख है आपकी बाट जोहने में
ऊँचे झरोखे, सूने आँगन !
अनागत की अगवानी मे अंकित करती अल्पना

खो जाती हूँ साथ बिताये मिलन के क्षणों में !

आपको भोजन कराने की उमंग
मुझे रसोईघर में ले जाती है
फूलते फुलकों में फूलता है मेरा हृदय
जगमगाते अंगारों की दीप्ति छा जाती है मेरे मुख पर
मनुहार-दर-मनुहार के बाद
जब हाथ धोते हैं आप
मुझे आती हैं डकारें
पूर्णतया तृप्त होने की।

आपकी खुशी के लिए बदलती हूँ बार-बार ओढ़नी
आपके सराहने पर मेरे परिधान
जगमगाते हैं सलमे-सितारे
मेरे सुरंगी मिज़ाज में !

आप ही हैं शृंगार मेरे सौंदर्य का
हाथों की मेंहदी, पावों की महावर
ललाट की बिंदिया, नयनों का काजल
आप ही हैं माँग का सिन्दूर !

जब आप करते हैं मेरे रूप का बखान
कलकल बहने लगता है कविता का प्रवाह
पिघलने लगता है मेरा गोचर गात
और मैं बन जाती हूँ अगोचर सूक्ष्म समीर !

जब आप शार्दूल के सदृश निर्भय सोते हैं
तो सपने सौंपकर आपको
मैं हो जाती हूँ निश्चिंत

बार-बार उठकर देखती हूँ आपकी शान्त-क्लान्त पलकें
आँचल से ढँक लेती हूँ आपका तन्द्रिल पौरुष !

आपको सोते देखकर ही जाना मैंने
सृष्टि में नर से अधिक सुन्दर नहीं होती नारी !
स्वर्णिम सुमेरु से काटकर
कुदरत गढ़ा करती है अपना स्वप्न
पुरुष के अंग-प्रत्यंग में !

तालाब में तैरते देखकर आपको
पहली बार जाना मैंने
जल का भी होता है आकार !
जो फटता है
पुरुष की सन्तरण करती
सुपुष्ट देह से !

घुड़सवारी के समय
कवच की झंकृत कड़ियाँ
पवन के वेग को रूपायित कर देती हैं।
ओह, कितनी अनगढ़ और सधी हुई होती है
पुरुष की काया !
वाह, कितना बल और वेग होता है
पुरुष के कलेवर में !

बारम्बार आप ही उगते हैं सूरज में !
आप ही चाँद हैं पूनम के आकाश में !
ऋतुओं के चक्र में
आप-ही बरसते हैं, आप-ही सरसते हैं
आप-ही तप्त-शीतल करते हैं रत्नगर्भा को

मात्र एक देह आप
आप ही व्याप्त हैं निखिल भुवन में !

आपके भुजपाश में-मेरी सीमाएँ माटी की
शून्य में विलीन हो जाती हैं
जहाँ उठते नहीं, 'क्यों' के जंजाल
नहीं उठती कोई शंका
मिट जाती हैं दुविधाएँ
और लुप्त हो जाती हैं भय-चिंताएँ
वर्षों के बासी मन की !
क़रीब लाओ अपना सिर
अपनी छाती पर धरकर
गीतों से सहला दूँ पलकें !
लाओ, अधर अधरों से उलझाकर
हम पिंजर में प्राण फूँक लें !
हाँ, कस लो
कस लो अपनी सशक्त भुजाओं में
इकहरा विद्युत्-गात मेरा !

ढहने लगी हैं अटारी की चारों दीवारें,
तैरने लगे हैं, पलंग, बिछौने, तकिये !
जलता हुआ दीपक अदीठ हो गया है
मैं हो गयी हूँ अन्तर्धान
आप कौंध रहे हैं मेरी संज्ञा में।
मेरे अंग-अंग रास रचा है
हर्ष का, पीड़ा का !
कहाँ हो आप ?

कोई ज्योत सीमाएँ लाँघती

ऊपर को बढ़ती जा रही है !
सुन पड़ता है अनहद नाद !
महारस की अद्‌भुत लीला के बीच
यह कौन-सा लोक है, नाथ ?

क्या मैं कुछ बोली ?
कोई आदेश दिया आपने ?
समय लगता है मुझे देह धारण करने में
कालखंड के बीच लौटने में !
न कंकड़ चुभते हैं
न काँटों का ही भान रहता है मुझे।
स्वर्णिम पंखों की छतरी ताने
निरखने दो निर्निमेष मयूर युगल को !

क्या हो गया है कल्प को
कितने वेग से लीन होता जा रहा है
यह अतीत के व्याल-मुख में !
इस निर्मल आकाश की निराली आभा में
न आप पुरुष हैं, न मैं हूँ नारी !
आकार हैं एक ही मूल सत्ता के
अनगढ़ !

शब्द नहीं दिये सरस्वती ने मुझे
आपके सान्निध्य-सुख को व्यक्त करने को !
गूँगी हूँ मैं !
काया की पोथी में काम की स्वर्ण मसि से
मन के छन्द लिखती है आपकी प्रीत।
बँधता नहीं कल्पना में
रहस्य-चिन्तन प्राणों का।

अद्‌भुत है, अद्‌भुत है,
कामदेव तेरी क्रीड़ा।
पूर्ण पुरुष और पूर्ण नारी के
औघट घाटों के बीच
विज्वाल की गंगा के मझधार
तिराना स्वर्ण-तरी का !
कौन पनिहारी जायेगी दूजे घाट
इस पनघट के पश्चात् !

कौन विभक्त कर सकता है
इस अद्वैत को ?
कौन विलग कर सकता है मुझे आपसे ?
सेनापति यमराज की
मृत्यु-अक्षौहिणी को कर पराजित
जीत लाती है जीवन
अकेली अबला सावित्री
सत्यवान एक ही होता है संसार में !

मालदेवजी के भेजे
आये आसाजी बारहठ वापस ले जाने को मुझे।
आ गयी होगी याद राजा को
और अपनी कुटेव के कारण
कर दिया होगा रवाना कवीश्वर को,
छन्द को कर भंग
कविता का एक चरण वापस लाने को।

आधे कोस दूर से ही
लाठी के सहारे डगमगाते पाँव
शब्द-ब्रह्म को तोड़ने की साधना में लड़खड़ाते

बारहठजी को पहचान लिया मैंने !
जानती हूँ
छाया-लोक में रचाने वाले सपनों का संसार
कवीश्वरों की सिद्धवाणी का प्रताप !
और जानती हूँ
कवि से गहरी समझ नहीं होती
किसी में भी कविता की,
देह की डालों, काम के तिनके से
एक नीड़ का सृजन है
मेरा जीवन काव्य !
समझो, कवीश्वर ! समझो !
कसकर चिपक गयी मैं बाघाजी से
गले में डाल कर हाथ
अर्ध चन्द्राकार-सी झूल गयी
वक्षस्थल पर टिकाकर अपना शीश
सुरसरि की तरह हो गयी तरल
मूँदकर नयन अंगीकार कर लिया देवाधिदेव ने !

उन्होंने भी भर भुजाओं में
दिये नेह वचन नयनों के
और निर्विकार रमते रहे
मेरी समर्पित कुसुम-काया से।

आसाजी के चारों ओर घूमने लगा ब्रह्माण्ड
युगल छवि राधा और श्याम की
कौंधने लगी नयनों में !
और कल्पना रचने लगी रूप

निर्मल आकाश तले
रेत के ऊँचे टीले के आसन पर आसीन
योगेश्वर !
शीश पर उदित होता द्वितीया का तिर्यक् चन्द्र
जटा से निकलती भागीरथी
गले में आभूषण सर्पों के
कण्ठ में घुला हुआ गरल
और दृष्टि से झरता अमृत।
वामांग में प्रतिष्ठित माँ पार्वती।

भूलकर समस्त मनोरथ
आसाजी ने किया दंडवत इस विराट दर्शन को
आसन की विभूति कर ली शिरोधार्य
और निर्झर ज्यों कलकल बहने लगा
वाणी का वरदान–

नमो शैल कैलाश शिखरस्थ, महेश्वर !
नमो अर्धांग, सती-गौरी वर !
नमो योग योगेश, करतल गरल धर !

नमो मार-मारक महादेव, गंगाधर।
नमो एकलिंगी, भूतेशकायः
नमो शिवायः नमो शिवायः

नमो मोहिनी के भुवनरूप मोहित
नमो भुज उठाये सती देह निश्चल।
नमो जनम-जनम उमा के वरणवर।
नमो ऊर्ध्वलिंगी, जटाधर सुधाकर।

नमो परम गुरु, अनन्त, विश्वनाथः ।
नमो शिवायः नमो शिवायः।

साक्षी राजा मालदेव की

ध्वस्त किये मैंने नित नये क्षितिज
नित नये दुर्ग।
जहाँ जहाँ बजायी तलवार
पाट दी धरा योद्धाओं के मुण्डों से
और अजेय कटक ने मेरी
जीत लिये तैंतीस मुल्क़ इन दस वर्षों में।

भारमली मेरी प्रेरणा !
रिझाने को जिसे
चरणों में ढेर लगाया मैंने दुर्गों का·
बहायी रक्त की नदियाँ
कपोलों पर अरुणोदय उगाने को
दबाता गया धरती
गजगामिनी के सम्मान में।

फिर भी त्याग दिया भारमली ने
विजय के उनचास पवन पर आरूढ़ मुझे
एक मद-विहीन गजराज मान !

ओ अनंगवती !
मैंने सुलाया तुझे उन सेजों पर
जिनकी सलवटें निकालते-निकालते
बीत जाता सारा जीवन तेरा।
जिनके पहरे पर खड़ी तू निरखती असहाय

विलासरत राजा रानियों के युगल।
और खखार सुनते ही थमाती
प्याले और अँगोछे
'हुकुम' 'हुकुम' करती।

मैंने मान दिया तुझे स्वामिनी का
अधिकारिणी वंचित रही जिससे
रह गयी बैठी अपनी जागीर
रूठ गयी तेरे कारण
अर्धांगिनी मेरी।
और वंश-वृद्धि की तो बात ही छोड़
धरती ही उलट गयी
बीज धारण किये बिना।
जिया मैंने निर्वंश का जीवन
तेरा साथ करने में।

क्या नहीं दिया मैंने तुझे ?
चलाया राज्य तेरे संकेतों पर,
युद्ध से लौटते ही हर बार
खोजा तुझे
आलिंगनबद्ध किया तुझे कचव पहने ही।
प्रीत की पूरी सामर्थ्य से ;
रखी नहीं कोई अन्य स्त्री।

इस पर भी छोड़ गयी तू मुझे–
पर मैं तुझे असती नहीं कहूँगा।
मैं ही नहीं समझ पाया नारी का मन।
रण की सज्जा का पारखी
जानता रहा मैं अश्व, शिरस्त्राण, कवच

बाहुबन्द, जाली, निषंग और
तलवार बाँधने के स्थल,
ढाल पकड़ने का हत्था, मूठ तलवार की।
योद्धा का एक-एक शृंगार !
किन्तु अपरिचित रहा नारी-तन के शृंगारों से
नर के किस रोमकूप में वास करती है
मायावी नारी !
कैसे करते हैं जागृत
इस काया विहीन कामिनी को !
इसके आवरण को सजती हैं कौन-सी पोशाकें
कितने खींचने पड़ते हैं चीर अनावरण करने को !

युद्ध का रसिक मैं
पराक्रम से मेरे, जोहता है विरोधी
अपने पराभव की बाट।
साधारण समझकर भूल गया–
शय्या के समर में हारता नहीं कोई बाज़ी
खड्ग से नहीं कटता अनंग
नहीं बिंधता भालों से।
कला है जीतना कामिनी को।

कदाचित् इसी कारण
दुर्ग-विध्वंसक मैं।
नहीं तोड़ सका अपनी पत्नी का अभिमान,
रूठना प्रियतमा का।

कदाचित्, नहीं रोक सका मैं इसी कारण
विजित, सेवा में संलग्न भारमली को–
सेवा में रत एक अकिंचन दासी को।

शायद, इसी कारण
यमराज को रिझाने वाला मैं
रिझा नहीं पाया
कोई दूसरी कान्ता जीवन-पर्यन्त।

मुझे रानी ने ठुकराया
ठुकरा गयी मुझे एक दासी,
अब कौन नारी करेगी विश्वास मेरा ?
तूने नष्ट कर दी प्रतिष्ठा एक विजेता की
नारी लोक में।

सूने महलों के कुन्द झरोखों में बैठा
निर्निमेष तकता हूँ – चाँद की ओर।
खोजता हूँ प्रमदा की सौरभ सेजों में।
भीगता हूँ कदम्ब तले
बरसते मेह में अकेला।

खोजता नहीं मैं, यदि खो जाती तू
मर जाने पर भी नही करता पछतावा
किन्तु मेरे पुरुषार्थ को कर कांतिहीन तूने
वर लिया एक कविमन को।
खट्टे बेर की तरह तिक्त
कोटड़ा के लुटेरे बाघा को ?

आज भी जीत सकती है मेरी सेना
कोटड़ा का कण-कण
बाँधकर बुला सकता हूँ तुझे अपने चरणों में
बोटी-बोटी बाँट सकता हूँ
तेरी देह की।

पर निश्चित ही नहीं जीत सकता
तेरा हृदय-दुर्ग।
निश्चय ही नहीं बाँध सकता हूँ
तेरे मृगनयन
खंडित कर सकता नहीं
तेरी वासना की काया।

पराजित कर दिया मुझे भारमली ने
कलंक लगा दिया मेरे पुरुषार्थ को
इन घावों की औषधि कहाँ ?

अब तो रानी भी नहीं चढ़ेगी
मेरी देहरी,
धरती थमेगी नहीं मुझसे
और लगेगा कलंक मेरी
यश गाथाओं में।

गुणगर्भा भारमली !
काश, भर देती तू मेरी अपूर्णता के नीड़
बना देती मुझे एक पूर्ण नारी का
पूर्ण पुरुष।
काश, बख्शती मुझे अपने अमृत पात्र की
अगोचर बूँदें।

मैं बन लेता राजा से रंक
रमा लेता भस्मी।

साक्षी रानी उमादे की

भरोसा था मुझे भारमाली पर।
एक बार तो हुई थी पीड़ा
उसे अपनी सेज पर, अपने ही स्वामी से
केलि-क्रीड़ा करते देख।
पर जानती थी मैं
अंततः भारमली खोज लेगी अपना भरतार।

हम स्त्रियों को
जिन्हें सौंप देते हैं घर वाले एक अजाने पुरुष को
बाँध देते हैं गठबंधन।
काँपती हथेली, रख देते हैं पुरुष के हाथ में,
गाजे-बाजे, औ' सहस्रों गीतों के बीच
अग्नि की साक्षी में, समाज के सामने
सीख लेती हैं जस-तस पुरुष से प्रीत करनी।
तरसती हैं छींके पर धरी भोग की हाँड़ी को।
चुल्लू चुल्लू कर पीती हैं
और चढ़ाती हैं मस्तक पर प्रसाद ज्यों।

हमारे कन्त खोजते अपना स्वरूप
अनेक नारी देहों में।
पुरुषार्थ पर करने को भरोसा
सौ-सौ बार सुनते हैं कानों से
प्रीत के पट्टे-परवाने।
खींचते लक्ष्मण रेखा,
लेते अग्नि परीक्षा।
और हम खोजती हैं नारीत्व की सार्थकता

भरतारों के भटके हुए भरम में।
मानती हैं नर को नारायण कर।

भारमली अभ्युदय है नारी की मांसलता का।
नहीं छीन सका युग
उसकी सहज सामर्थ्य।
उतार दी चमक उसने पुरुष की
समाज-प्रदत्त प्रतिष्ठा की।
और राजाओं को बना दिया रंक
प्रणय के अर्थों में।
वशीकरण के मंत्रित पुष्प ज्यों !

भारमली ने खोल दी पोल पुरुषों की।
भाँवरें ली हुईं परिणीताएँ
पूजतीं परमेश्वर के समान जिन्हें
पर दे नहीं सकतीं सम्पूर्ण देह का भोग।

हँसती होगी भारमली हंसलोक में
रूप-दुर्ग के बुर्जों पर खड़ी उज्ज्वल वेश में
उन पुरुषों पर
जो जीते रहे मर्द होने के भ्रम में
यौवन-भर।
वस्तुतः जो थे ही नहीं मर्द !

मैंने भी कर डाली एक भूल।
रूठी रानी के रूप में हो गयी प्रसिद्ध मैं,
जाना जाता है मेरा महल
रूठी रानी के महल के नाम से
कर नहीं सकती कायाकल्प

लौट नहीं संकती
निकलकर यश-देह से नारी देह में।
महाभारत के भीष्म की मानिंद
मुझे भी जीना पड़ा
ब्रह्मचारिणी का जीवन
एक अविचारी निश्चय का
ढोल बजाने के कारण।
पूरे वर्ष की एक-एक रात को
करती रही कल्पना
भारमली की क्रीड़ाओं की
अपने स्वामी के साथ।
और उसकी देह के माध्यम से
भोगती रही भोग मन-ही-मन।
मैं अछूती रही पुरुष के प्रस्वेद से
और भारमली ने भोग भोगकर छिटक दिया पुरुषों को
पहुँची दोनों एक ही सम पर
एक राग से, एक विराग से,
जिसे नारी बना दे वही नर।

उपसंहार

अंगों का मेला भरने से पहले पहुँच गयी
मैं भारमली इस भुवन में।
कुमकुम पद-चिन्हों से वसन्त के स्वागत को

फूलों की जाजिम बिछाने
चँवर डुलाने कामदेव की पालकी पर।

पसरा है मेरे सम्मुख
अनन्त अन्तरिक्ष भविष्य का।
तैरते दिखते हैं मुझे प्रभंजन में
अगणित निर्लज्ज रमणियों के आकार
निर्बन्ध, अनावृत्त,
कामासनों में लीन,
ममताविहीन, अगर्भित
कृष्ण की नाईं अनुराग में आसक्त।

किन्तु कौन समझता
नारी काया के पंछी का चंचल मर्म
पुरुष विरचित युग में।
समझता कौन संकेत
गढ़-दुर्ग-राजमहलों के
लौह द्वारों के पीछे जनमतीं उद्दाम तरंगों का
जानता कौन
मनुष्य योनि की वेदी के चारों ओर
भाँवरें काटते भोग को
यदि मैं करती नहीं देह धारण।

संसार की समस्त सम्पदा से मूल्यवान है
तुम्हारी देह, नारियो !
तुम द्वार हो समस्त देहों का
आती नहीं तुम्हारी देह बिन
कोई आत्मा, इस सुहाने संसार में ।
धारण करती हो तुम जैसे गर्भ में पुत्र

वैसे ही बिना भेदभाव
धारण करती हो गर्भ में पुत्रियाँ।
तुम गर्भपूर्णा माँ हो असंख्य माताओं की
तुम जन्म देती हो पुत्रों को
जो बनते हैं पति दूसरी जननियों के।

तुम विधाता की तरह दूसरी कुदरत हो
पहली कुदरत की कमियाँ पूरी करने वाली
तुम्हारी देह से लिपटते हैं
छोटे, बड़े – सभी।

माँ समान सुलाती छाती पर जिन्हें
ढाँपकर आँचल से कराती स्तनपान
होकर युवा वे उसी भाँति चाहते विश्राम
प्रिया के वक्ष पर
अनेक रूपों में जीती हो
तुम अनन्त नारी

कौन भ्रष्ट कर सकता है तुम्हारी काया ?
आधे स्वप्न और आधी कांति से
सृजन होता है तुम्हारा।
कुमकुम केशर और चंदन रँगता है
पहले पहल तुम्हारे गात को
घुलता है ईंगुर दूजी बार।
जो नारियाँ करतीं भ्रष्ट अपनी देह
वे ही उघारती नहीं इसे।

रूप होता ही नहीं नारी के तन में।
दर्शक की दृष्टि में होता है रूप

चिर युवा हो तुम जन्म से मृत्यु तक।
मृत होता ही नहीं देह में नारी का रूप।

जीवित रहता है शृंगार तुम्हारे रूप में
प्रमुदित करने को जिसे झेलतीं तुम अकथ्य पीड़ा।
होता है उदित इन्द्रधनुष तुम्हारे नयनों से।

निगोड़ी लाज उठाने नहीं देती तुम्हें पलकें
झपकने नहीं देती पलकें सुहानी रीझ
सोने नहीं देता तुम्हें जागता स्वप्न
और जागने नहीं देतीं सुप्त अभिलाषाएँ।

करती हो सृजन तुम जिन नरों का
वे ही करते हैं तुम्हें आवृत्त, अनावृत्त।
बाँधते हैं वे ही अनेक बन्धनों में।
जीती हो तुम पुरुषों में, नारियो !
केवल रात ही नहीं
दिन भी होता है तुम्हारा।
जागती हो तुम तो होता है प्रभात।
निहारती हो तुम बाट तो होती है गोधूलि सन्ध्या।

संगीत का निर्झर कलकल करता है तुम्हारे कारण
करातीं कविता की रचना तुम नारियो
आँकते तुम्हारे ही आकार चितेरे भी।
तुम्हारे खोजने पर ही मिलते हैं पुरुष जग में
परखतीं पुरुषार्थ तुम्हीं काम की अग्नि में
भोगना पड़ता है तुम्हें ही उन्मत्त नर
और थामना पड़ता है तुम्हें ही क्लान्त पुरुष को।

मत सकुचाओ अपने पुरुष की खोज में
नारियो, हारो मत
एक बार, दो बार, सौ-बार
परखो भोग में खरा-खोटा
और अन्ततः करो जिसका वरण
कर दो उसे सम्पूर्ण।

भर लो प्रेमालिंगन में
बाँध लो मन के बंधनों से
भोगने दो अपनी देह,
मिटाने दो अपना रूप
एकाकार कर दो अपनी आत्मा
मुक्त कर दो आवागमन से !
नारियो, तुम दो
युग को पूर्ण पुरुष !

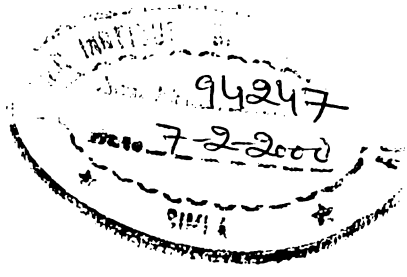

भारमली राजस्थान के इतिहास की अनूठी पात्रा है, जो जैसलमेर के राजा लूणकरण के यहाँ राजकुमारी उमादे के साथ बच्चे की तरह पली। वह एक दासी थी। उमादे का विवाह जोधपुर-अजमेर के राजा राव मालेदव के साथ हुआ। विवाह में राठौड़ों के साथ षड्यंत्र करने की योजना बनी, किन्तु मालदेव बच गये और उमादे भटियाणी के साथ भारमली भी दासी के रूप में अजमेर आ गयी। सुहागरात के अवसर पर रानी का शृंगार अभी पूरा नहीं हुआ था कि श्रीमान् महल में पधारे। भारमली उन्हें बातों में बहलाये रखने के लिए महल पहुँची और वहीं रह गयी—रानी बनकर। उमादे भटियाणी रूठ गयी और अपनी जागीर को लौट आयी। इतिहास में वह रूठी रानी के नाम से विख्यात हुई। राजा ने रूठी रानी को मनाने के लिए कवि ईसरदासजी को भेजा। रानी ने मान त्यागा और वह पालकी में जोधपुर आ रही थी कि कोसाना में आसाजी बारहठ ने उन्हें यह दोहा सुनाया—

मान रखे तो पीव तज, पीव रखै तो मान।
दो दो गयन्द न बन्धसी, अेकै कम्बूठाण ॥

भारमली राजा को छोड़कर जैसलमेर आ गयी, जहाँ कोटड़ा के ठाकुर बाघाजी से उसका प्रेम हो गया। भारमली ने बाद के वर्ष बाघाजी के साथ ही काटे। मालदेवजी ने भारमली को वापस लाने के लिए आसा बारहठ को भी भेजा था लेकिन बाघा-भारमली का प्रेम देखकर आसा स्वयं वहीं रह गये। उमादे भटियाणी सं. 1619 में राव मालदेवजी के साथ सती हुई।

लेकिन यह इतिहास कथा अनेक प्रश्न उठाती है। बालपन से युवावस्था तक जो कन्या राजकुमारी के साथ रही, उसने रानी को धोखा क्यों दिया? एक दासी ने, रानी बनने के उपरान्त राजा को क्यों छोड़ दिया? एक साधारण सरदार में ऐसा क्या था कि भारमली ने उससे प्रेम किया? क्या भारमली रूपजीवा थी? और उत्तर दिये हैं स्वयं भारमली ने।

राजस्थानी के यशस्वी कवि **श्री सत्यप्रकाश जोशी** ने इन्हीं प्रश्नों एवं प्रस्थानों के आलोक में तथा आधुनिक संदर्भों में उस ऐतिहासिक गाथा को नया विस्तार दिया है। इस काव्य-संग्रह को वर्ष 1977 का साहित्य अकादेमी पुरस्कार भी मिला है। इस कृति का सुललित अनुवाद हिन्दी और राजस्थानी की महत्त्वपूर्ण लेखिका **श्रीमती कुसुम माथुर** ने किया है। पाठकों को इसमें मूल जैसा ही रस मिलेगा।

Library
IIAS, Shimla
H 817.51 J 78 B
00094247

ISBN : 81-260-0305-7

मूल्य : पचास रुपये

आवरण : विमल सरकार